

भारत में सामाजिक नागरिक संस्थाएं

स्वरूप, भूमिकाएं

और

चुनौतियां

सचिन कुमार जैन

शीर्षक ————— भारत में सामाजिक नागरिक संस्थाएं : स्वरूप, भूमिकाएं और चुनौतियां

लेखन ————— सचिन कुमार जैन

समीक्षा एवं सम्पादन ————— गुरुशरण सचदेव और चिन्मय मिश्र

परामर्श ————— संदीप नाइक, जावेद अनीस, पूजा सिंह, निधि तिवारी, राजेश भदौरिया,
राकेश कुमार मालवीय, सत्येंद्र पांडेय और विश्वम्भर त्रिपाठी

वर्ष ————— 2022

प्रतियां ————— 500

संस्करण ————— पहला

प्रकाशन ————— विकास संवाद

ए-5, आयकर कॉलोनी, जी-3,
गुलमोहर (शील पब्लिक स्कूल के पास) बावड़िया कला,
भोपाल (म.प्र.) - 462 039. फोन : 0755 - 4252789
ई-मेल : office@vssmp.org, वेबसाइट : www.vssmp.org

मुद्रक ————— अमित प्रकाशन (amitbhopal2000@gmail.com)

सहयोग राशि ————— 30 रुपए

भारत में सामाजिक नागरिक संस्थाएं

स्वल्प, भूमिकाएं

और

चुनौतियां



अनुक्रमणिका

1.	किताब का परिचय	5
2.	मानव और उसका समाज	7
2.1	आदिम मानव समाज	7
2.2	विकास का पहला चरण	7
2.3	विकास का दूसरा चरण	8
2.4	उत्तराधिकार से परिवार, समुदाय और राज्य व्यवस्था	9
3.	सामाजिक नागरिक संस्थाएं – ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	11
3.1	ऐतिहासिक सन्दर्भ	11
3.2	उन्नीसवीं शताब्दी का सन्दर्भ	12
3.3	बीसवीं शताब्दी का सन्दर्भ	14
4.	सामाजिक नागरिक संस्थाएं – मायने, पहचान और उनका नज़रिया	17
4.1	सामाजिक नागरिक संस्थाओं की पहचान	17
4.2	सामाजिक नागरिक पहल – संस्थाएं बनाम जन आन्दोलन और अभियान	18
4.3	सामाजिक नागरिक संस्थाओं का फैलाव	20
4.4	सामाजिक नागरिक संस्थाएं और विचारधाराएं	21
5.	सामाजिक नागरिक संस्थाएं – आधारभूत भूमिकाएं	23
5.1	सामाजिक नागरिक संस्थाएं और उनकी समाज के बारे में समझ	23

5.2	नयी आर्थिक नीतियों का सन्दर्भ – संघर्ष और निर्माण	24
5.3	राहत और पुनर्वास का सन्दर्भ	26
5.4	न्यायिक प्रक्रियाओं का सन्दर्भ	27
5.5	सामाजिक नागरिक पहल और संस्थाओं की राजनीतिक भूमिका	29
5.6	क्रान्ति के राज की स्थापना	29
6.	सामाजिक नागरिक संस्थाओं के समक्ष चुनौतियां	31
6.1	छवि और स्वीकार्यता के प्रश्न	31
6.2	सामाजिक नागरिक संस्थाओं में लैंगिक समानता	32
6.3	सामाजिक नागरिक संस्थाएं और विविधता	34
6.4	विदेशी अनुदान का अनछुआ पक्ष	36
6.5	व्यापक आर्थिक-राजनीतिक नजरिए से बढ़ती दूरी	37
6.6	आत्म-विश्लेषण से संकोच	38
6.7	सामाजिक नागरिक संस्थाओं का नया वर्ग चरित्र	39
6.8	सामाजिक नागरिक संस्थाएं और वित्तीय संसाधन	41
6.9	बाहरी चुनौतियां	44
7.	निष्कर्ष	45
8.	सन्दर्भ	47



यह ध्यान रखना जरूरी होगा कि केवल राज्य और बाज़ार/निजी क्षेत्र के बीच व्यवस्था का बंटवारा न हो जाए। समाज का अपना स्थान होता है। उस स्थान को सुरक्षित रखने के लिए उक्त संस्थाओं की अहम् भूमिका होती है। इसे हम नागरिक स्थान (सिविक स्पेस) कह सकते हैं। हम किसी आदर्श कल्पना में नहीं खो जाना चाहते हैं। हमें यह अहसास होना चाहिए कि सामाजिक व्यवस्था-राज्य व्यवस्था-बाज़ार व्यवस्था की अपनी-अपनी विसंगतियां हैं। ये एक दूसरे को अपने आधिपत्य में लेने का प्रयास करती रहती हैं। उक्त संस्थाओं की भूमिका होती है कि वह इन विसंगतियों के सामने खड़ी हों और रचनात्मक तरीके से बदलाव के लिए उनका रचनात्मक प्रतिकार करें, इनकी तार्किक समीक्षा करें और सकारात्मक बदलाव की पहल करें। इन मायनों में सामाजिक नागरिक संस्थाओं की मानव जीवन में बेहद अहम् भूमिका है। उक्त संस्थाओं को नियंत्रित करने की कोशिश किसी एक राज्यकाल में नहीं होती है, समय-समय पर ऐसी कोशिशें होती रहती हैं। इस प्रक्रिया में आक्षेप लगाने और कानूनों के जरिये आवाज़ को कुंद करने की रणनीति अपनाई जाती है। इसी परिप्रेक्ष्य में यह उल्लेख करना जरूरी है कि उक्त संस्थाएं समाज-अर्थव्यवस्था और राजनीतिक पहलुओं का अध्ययन-विश्लेषण तो करती हैं, लेकिन अपनी स्थिति का आंकलन करना भूल जाती हैं। इसका प्रभाव यह पड़ता है कि अपनी विश्वसनीयता पर होने वाले आक्रमणों से वे खुद की रक्षा करने के लिए तैयार नहीं हो पाती हैं। यह एक महत्वपूर्ण पहलु है कि समाज और समाज की आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को किस नज़रिए से देखा-समझा

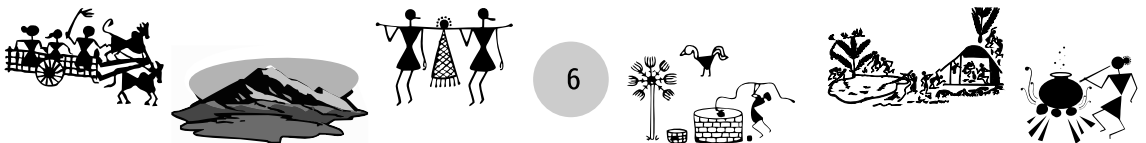


जाता है? राज्य अपने नज़रिए को सर्वोपरि मानता है और बाज़ार उसे अपने नज़रिए से मापता-आंकता है। ऐसे में समाज और समाज के लोगों का पक्ष और बेहतर समाज के मूल्य कहीं खो जाते हैं। जबकि, सामाजिक नागरिक संस्थाएं मुख्य रूप से व्यवस्था और व्यवहार को मूल्यों के मानकों के दृष्टिकोण से देखती हैं। वे यह मानकर ही संतोष कर लेती हैं कि संस्थाएं तो समाज के लिए काम करती हैं, अपनी छवि, अपने अस्तित्व और अपने पक्ष को रखने की उन्हें जरूरत ही नहीं है। यह एक किस्म से कमजोर विचार है। समाज में, व्यवस्था में और व्यवस्था को प्रभावित करने वाले हर समूह/व्यक्ति के मन में उक्त संस्थाओं की एक व्यवस्थित सत्यनिष्ठ छवि होना चाहिए और यह छवि किन्हीं धारणाओं और राजनीतिक आक्षेपों से न गढ़ी जाए, इसलिए सामाजिक नागरिक संस्थाओं को अपने आपको खोलना होगा और मूल्य आधारित राजनीतिक संचार की नीति को अपनाना होगा।

यह देखकर बहुत निराशा हुई कि सामाजिक नागरिक संस्थाओं के समूह में अपने वजूद को मजबूत करने की कोई तत्परता नहीं दिखाई देती है। चूंकि मुद्दों-विषय और बाहरी संस्थाओं के बारे में बात करना-संघर्ष करना तुलनात्मक रूप से महत्वपूर्ण काम लगता है, इसलिए संस्थाएं वहां बहुत कड़ी मेहनत करती हैं। लेकिन सामाजिक नागरिक संस्थाओं का समूह यह समझ नहीं पा रहा है कि समाज में जिस तरह की भूमिका उससे निभाने की अपेक्षा की जाती है, उसे निभाने के लिए एक तरफ तो उसे अपनी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक पक्षधरता को स्पष्ट करते हुए अपने लक्ष्य और अपनी भूमिका को समझना होगा, तो वहीं दूसरी तरफ जवाबदेहिता, संवेदनशीलता, पारदर्शिता, करुणा, अहिंसा, तार्किकता, समानता, बंधुता, स्वतंत्रता सरीखे मूल्यों से अपने अंतर्स को बहुत मजबूत करना होगा। इन दोनों ही पहलुओं पर संस्थाओं के समुदाय की तैयारी बहुत कमजोर नज़र आती है।

यह पुस्तिका भारत में उक्त संस्थाओं की अवधारणा, व्यापक पृष्ठभूमि, उनके स्वरूप, उनकी भूमिका और चुनौतियों के चर्चा करने के उद्देश्य से तैयार की गई है।

हम उम्मीद करते हैं कि यह पुस्तिका हर उस व्यक्ति के लिए उपयोगी होगी, जो उक्त संस्थाओं के मायनों और उनकी भूमिकाओं पर चल रही बहस में रुचि रखता है। यह पुस्तिका उन्हें धारणाओं से बाहर आकर सामाजिक नागरिक संस्थाओं से जुड़े पहलुओं के बारे में समझ बनाने में मदद करेगी। जो भी लोग समाज कार्य या सामाजिक-आर्थिक विकास में कोई भूमिका निभाते हैं या निभाने की इच्छा रखते हैं, उन्हें भी इससे कुछ मदद जरूर मिलेगी। इस वास्तविकता से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि उक्त संस्थाओं के अपने समुदाय के भीतर भी खुद के बारे में जानने की अभिरुचि कम हो रही है। अपने होने के अर्थों, मूल्यों, भूमिकाओं और चुनौतियों को जाने बिना सामाजिक नागरिक संस्थाएं और कार्यकर्ता एक निश्चित सीमा के बाद निष्फल हो जाते हैं।





मानव और उसका समाज

2.1 आदिम मानव समाज

क्या हमें अपनी जड़ें पता हैं? आदिम मानव वास्तव में किसी सामाजिक व्यवस्था में नहीं था। वह छोटे-छोटे समूहों में रह कर शिकार करता, फल-फूल इकट्ठा करके जीवन जीता था। तब सामाजिक संरचना क्या थी इसके बारे में ज्यादातर अनुमान आज के आदिवासी समुदाय के जीवन से ही लगाए जाते हैं। जिन समूहों में आदिम मानव रहता था, उसमें कोई विभाजन या बंटवारा नहीं था। सभी मिलकर काम करते थे। उनमें न तो स्त्री और पुरुष का भेद था, न ही यह कोई निर्धारण था कि किसी व्यक्ति कोई कोई तयशुदा काम ही करना होगा। हम कह सकते हैं कि वहां श्रम का कोई विभाजन नहीं था। वे जंगल, नदी और पहाड़ों से जो भी इकट्ठा करते थे, उसे जमा (संग्रहीत) करके नहीं रखते थे। ज्यादा से ज्यादा बचा हुआ शिकार, फल को अगले दो चार दिनों के लिए रखा रहने देते थे। इसमें भी कोई बंटवारा या विभाजन नहीं था कि किसी को ज्यादा मिलेगा और किसी को कम मिलेगा। न ही यह व्यवस्था थी कि किसी एक व्यक्ति को बचा हुआ खाना रखने की जिम्मेदारी दे दी जायेगी। यानी संपत्ति का विभाजन या उस पर नियंत्रण की व्यवस्था भी नहीं थी।

2.2 विकास का पहला चरण

श्रम का विभाजन, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और औजारों का बनना

इसके बाद आदिम मानव शिकार के लिए बेहतर औजारों का निर्माण करने लगे। वे काम को सहजता, सफलता और आसानी से करने के रास्ते खोज रहे थे। उन्हें यह भी समझ में आने लगा था कि जब उनके शारीरिक रिश्ते बनते हैं, तो बच्चे पैदा होते हैं। ये रिश्ते जिनके बीच बनते हैं, वे एक समान लिंग के न होकर विपरीत लिंग के होते हैं। और लिंगों के इस अंतर को स्त्री और पुरुष माना जाने लगा। वे इसे कोई ईश्वरीय घटना नहीं मानते थे। उन्हें समझ में आ गया कि यौन संबंधों से ही बच्चे पैदा होते हैं।

आदिम व्यवस्था में कोई पारिवारिक या एकल सामाजिक व्यवस्था तो थी नहीं, तो ऐसा नहीं था कि किसी खास पुरुष के साथ किसी खास स्त्री के ही सम्बन्ध होंगे। ऐसे में जब बच्चे पैदा होते थे, तो उनका पालन-पोषण पूरा समूह मिलकर करता था। आदिम मानवों के समूहों को समय के साथ समझ में आया कि जब



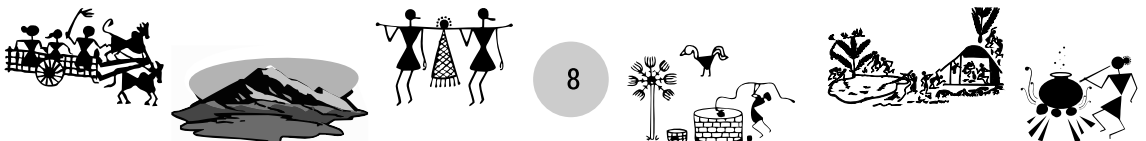
महिला गर्भवती होती है, तब उसकी स्थिति ऐसी नहीं होती है कि वह शिकार में पूरी तरह से शामिल हो सके। यहाँ तक कि छोटे बच्चों वाली महिलायें भी शिकार में शामिल नहीं रह पाती थीं। बच्चों की देखरेख के कुछ काम केवल महिलायें ही कर सकती हैं। ये काम पुरुष नहीं कर सकते हैं, मसलन स्तनपान। शिकार के काम, स्त्री-पुरुष के संबंधों, प्रजनन और बच्चों के देखभाल के अनुभवों के आधार पर श्रम के बंटवारे की शुरुआत हुई। इसका मतलब यह हुआ कि पुरुषों की ज्यादा भूमिका जंगल-नदी जाकर शिकार करने और फलों को इकट्ठा करने में देखी जाने लगी और महिलायें बच्चों की देखभाल के काम से जुड़ने लगीं। शुरुआती श्रम विभाजन व्यवस्था के हिसाब से जरूरतों को पूरा करने के लिए किया गया। जो बाद की सामाजिक व्यवस्था में श्रम बंटवारे से भेदभाव की तरफ तेज गति से बढ़ता चला गया। प्राकृतिक रूप से पुरुषों की शारीरिक ताकत थोड़ी ज्यादा होती है।

जब पहला श्रम विभाजन हुआ तो उन्हें जंगल-नदी से भोजन इकट्ठा करने, लकड़ी लाने और जंगली जानवरों से जूझने के अवसर मिले। ये अवसर लैंगिक भेदभाव को बढ़ाने में भूमिका निभाने लगे क्योंकि उन कामों से पुरुषों की शारीरिक और मानसिक कसरत होती रही और वे ज्यादा मजबूत और आत्मविश्वासी होते गए। सामाजिक विकास के बाद के चरणों में काम की प्रकृति, यानी कौन किस तरह के काम करता है और किसमें कितनी ताकत है, की वजह से श्रम का विभाजन लैंगिक विभाजन में बदलता गया। जो ताकतवर होता गया यानी पुरुष। उसे ज्यादा हक और महत्व मिला। यहां प्राकृतिक लैंगिक अंतर का स्वरूप बदल कर सामाजिक लैंगिक अंतर या भेद में बदलता गया। माना जाता है कि पांच लाख सालों से ज्यादा सालों तक इंसान शिकार, फल, फूल और वनस्पतियों को इकट्ठा करता रहा। उसकी जिंदगी स्थिर नहीं थी। वह घूमता रहता था। तब वास्तव में घुमंतू समाज था। इसमें वह केवल अपनी जरूरतें पूरी करता और जिंदगी बिताता था। इतने सालों में उसने संपत्ति इकट्ठा करने के बारे में कोई जतन नहीं किये।

2.3 विकास का दूसरा चरण

खेती और पशुपालन

इसके बाद यानी अब से लगभग 10 हजार साल पहले मनुष्य ने खेती और पशुपालन के बारे में कुछ अनुभव हासिल किये। उसे समझ आया कि सब कुछ अपने आप पैदा नहीं होता है। वह भी कुछ उत्पादन कर सकता है। उसने यह देखा कि बीजों से पौधे निकलते हैं। इनका इस्तेमाल करके वह अपनी जरूरतों को आसानी से पूरी कर सकता है। इसी तरह पशुओं को पाला भी जा सकता है, ताकि जरूरत के मुताबिक उनका उपयोग किया जा सके। वास्तव में खेती करने से अनाज को बचा कर रखने और पशुपालन से पशुओं को इकट्ठा करके रखने की प्रवृत्ति की शुरुआत हुई। अब उसे अपनी जरूरत को पूरा करने के लिए वक्त-बेवक्त भागने की



जरूरत नहीं पड़ती थी।

इस दौरान लैंगिक विभाजन बढ़ चुका था, लेकिन खेती और पशुपालन के काम से मानव समुदाय में स्थिरता (यानी कुछ समय के लिए एक जगह पर रुकना और घुमंतुपना कम होना) आने लगी थी, इसलिए उसमें महिलाओं की भूमिका बनी रही। यह भी माना जाता है कि तब तक 'ताकत या शक्ति' के बारे में मानव को अहसास हो गया था। इसीलिए 'निजी संपत्ति' की भावना आना शुरू हुई होगी। इसके बारे में पुख्ता सबूत नहीं हैं, किन्तु संभावना यही मानी जाती है। जिनके पास ज्यादा पशुधन या खेती का क्षेत्र होने लगा, वे अपने ही समूह में से दूसरे लोगों को इस काम में लगाने लगे। शुरू में यह व्यवस्था 'स्थायी काम में सहयोग' से शुरू हुई होगी। बाद में संपत्ति और ताकत की भावना का कम या ज्यादा होना झगड़े का कारण बना होगा और उन झगड़ों को निपटाने के लिए नियम बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई। गौर से देखें तो यहीं से किसी मानव समूह में जमीन और पशु सबसे पहली संपत्ति बनते हुए नज़र आते हैं। ज्यादा समय के लिए खाने की सुरक्षा रहे, इसके लिए संग्रहण की सोच विकसित होती नज़र आती है। जब यह भावना आई कि ज्यादा जमीन, जंगल और पशुओं से हमें ज्यादा सुरक्षा मिलती है, तो ज्यादा संपत्ति पर नियंत्रण का विचार पैदा हुआ। ज्यादा संपत्ति के रख-रखाव के लिए ज्यादा हाथों और ज्यादा श्रम की जरूरत पड़ी, तो दूसरों को काम पर रखा जाने लगा।

2.4 उत्तराधिकार से परिवार, समुदाय और राज्य व्यवस्था

ज्यादा संपत्ति और एक समूह में इसके कारण पैदा हुए प्रभुत्व से उत्तराधिकारी की यह अवधारणा आई कि एक व्यक्ति की मृत्यु के बाद वह संपत्ति किसकी होगी? संपत्ति के लिए तो किसी 'अपने' का होना जरूरी माना गया; और वहाँ से परिवार की अवधारणा आई, जिसका जुड़ाव 'विवाह' नामक व्यवहार से हुआ। स्वाभाविक है कि तब तक यह स्थापित हो चुका था कि प्रजनन की भूमिका और शारीरिक क्षमता में तुलनात्मक रूप से कम होने के कारण महिला संपत्ति की रक्षा नहीं कर सकती है, इसलिए बेहतर माना गया कि पुरुष (पहले पिता और फिर पुत्र) का ही संपत्ति पर नियंत्रण हो। इसके बाद उत्पादन के बढ़ने, ज्यादा संग्रहण और उसके मालिकाना हक से शुरू हुई प्रक्रिया 'ज्ञान' के अहसास तक पहुंची। वस्तुओं के आदान-प्रदान, विनिमय और फिर लेन-देन की व्यवस्थाएं बनने लगीं।

अब जीवन के प्रमुख काम केवल खेती या पशुपालन तक ही सीमित नहीं थे। बहरहाल ये काम प्रकृति पर आधारित थे, इसलिए मानव समाज के मन में प्रकृति के प्रति भय या सम्मान या दोनों का स्थान बना। हर रिश्ते में यह होता है और उसे निभाने के लिए हम कुछ व्यवहार करते हैं। प्रकृति को प्रसन्न रखने या अपना सम्मान दर्शाने के लिए पूजा पाठ का व्यवहार बनाया गया। यह काम कुछ खास लोगों को दिया गया, यह मानते हुए कि जो ज्यादा ज्ञान रखते हैं या प्रकृति को परिभाषित करते हैं, वे प्रकृति को प्रसन्न रख पायेंगे।



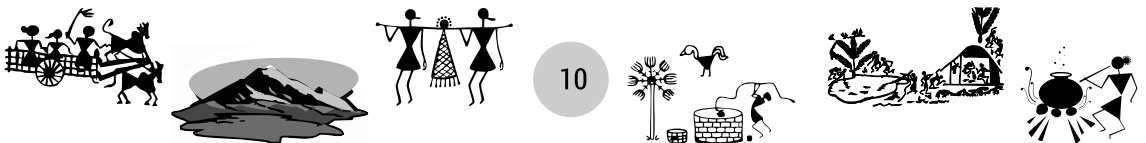
व्यापक रूप में देखें तो हमें पता चलता है कि समाज में संपत्ति धारण करने वाले, उसके यहाँ रह कर संपत्ति की देखभाल करने वाले, प्रकृति की उपासना करने वाले, व्यापार करने वाले और व्यापार करने वाले की मदद और सेवा करने वाले लोग अलग-अलग समूहों में पहचाने जाने लगे। इससे जाति व्यवस्था का निर्माण हुआ। इन्हीं व्यवस्थाओं में हमें समुदाय भी नज़र आते हैं। क्षेत्रीयता के आधार पर लोगों का समूह 'समुदाय' का रूप लेने लगा। खास इलाकों में रहने वाले लोग एक खास समुदाय का रूप लेने लगे और प्राकृतिक संरचना, जलवायु और भौगोलिक परिस्थितियों के हिसाब से उनकी प्रकृति भी बनने लगी। समतल इलाकों में रहने वाले, पहाड़ी, रेगिस्तानी, बर्फीले इलाकों में रहने वाले व गरम इलाकों में रहने वाले लोगों के समुदाय परिस्थितियों के मुताबिक अपना व्यवहार और व्यवस्था बनाने लगे। जब हम अलग-अलग समुदायों को एक साथ देखते हैं, तब वह समाज का स्वरूप लेता है।

उत्पादन, संग्रहण और जरूरतें जैसे-जैसे बढ़ती गयीं, वैसे-वैसे बाज़ार ने एक रूप लिया। अब उत्पादन का मकसद केवल अपनी निजी-घरेलू जरूरतें पूरी करना नहीं रह गया था। वस्तु के एवज में नकद (धातु, वस्तु और फिर मुद्रा) पैसा पाने की प्रक्रिया तय हुई। समाज भी ज्यादा ढांचागत रूप ले रहा था। व्यवस्था बहुत सीधी और सादी नहीं रह कर जटिल हो गयी थी। जिसमें संग्रहण भी होने लगा था और लेन-देन भी; इसी के साथ वहाँ बहस और टकराव भी होने लगे। ऐसी सामाजिक व्यवस्था, जिसमें आर्थिक व्यवहार होने लगा था, को चलाने के लिए कौशल, धन के साथ-साथ नियमों की जरूरत महसूस की जाने लगी। इससे सामाजिक, आर्थिक वर्गीकरण होना शुरू हुआ। इसके कारण गैर-बराबरी और निहित हितों का प्रभाव भी दिखने लगा। साथ ही टकराव और संघर्ष पैदा हुए। कुछ समुदाय बड़े इलाके पर अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे, इसलिए स्थानीय युद्ध भी होने लगे। समुदायों को पता था कि जिसके पास जितने ज्यादा प्राकृतिक संसाधन होंगे, उसकी ताकत उतनी ही ज्यादा होगी और वह उतना ही अधिक सुरक्षित भी होगा। इसी सबके चलते अपने क्षेत्रीय प्रभुत्व को बनाने, उसे बचाने, संघर्षों से निपटने, विवादों को हल करने के लिए एक व्यवस्था पैदा हुई, जिसे हम 'राज्य व्यवस्था' कहते हैं।

इसी प्रक्रिया में समाज ने एक व्यवस्थागत चारित्रिक स्वरूप भी अख्तियार कर लिया। मसलन -

- जाति आधारित व्यवस्था
- भाषा आधारित विविधता और व्यवस्था
- कौशल और आजीविका उपक्रम आधारित व्यवस्था
- लिंग आधारित व्यवस्था
- आर्थिक स्थिति आधारित व्यवस्था और

विगत पांच हजार सालों के इतिहास में हमें दिखाई देता है कि व्यवस्था बनाने की जरूरत इसलिये पड़ी ताकि नियंत्रण और दिशा एक ही रहे। टकराव कम से कम हों और असंतोष न पनपे। इसी से समिति, पंचायत और सभा सरीखी व्यवस्थाएँ अस्तित्व में आईं। समय के साथ पंचायत और सभा मूल्य आधारित व्यवस्था बन गई।



सामाजिक नागरिक संस्थाएं - ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

3.1 ऐतिहासिक सन्दर्भ

मानव विकास की प्राचीन व्यवस्था में निजी संपत्ति की अवधारणा नहीं थी। यही कारण है कि प्रकृति से प्राप्त होने वाले संसाधनों का उपयोग सभी समानता से करते रहे। हालांकि इस बीच आपसी संघर्ष भी चलते रहे। जब राज्य और बाजार की व्यवस्था का जन्म हुआ, तब संपत्ति के मालिकाना हक की व्यवस्था बनने लगी। युद्ध होने लगे और युद्ध में जीती हुई संपत्ति पर 'नियंत्रण' की व्यवस्था भी बनने लगी। जब धर्म की अवधारणा का उदय हुआ, तब अच्छे और बुरे कर्मों का वर्गीकरण हुआ। राजा, धनिक वर्ग, जमींदार और व्यापारी से अपेक्षा की जाने लगी कि वे पवित्र कार्य करेंगे। वंचितों और गरीबों को सहायता प्रदान करेंगे। ऐतिहासिक सन्दर्भों में सामाजिक नागरिक पहल वह कार्य होता है जो सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से किसी व्यवस्था के निर्माण या बदलाव की खातिर तथा किसी व्यक्ति, परिवार या समुदाय की सहायता के उद्देश्य से किया गया हो।

भारत में वैदिक काल से ही दया, दान, करुणा, कल्याण, अहिंसा, किसी को दुःख न देना और परस्पर सहयोग करने के सिद्धांत मौजूद रहे हैं। महाभारत के कथानक में 'कर्ण' नामक पात्र के साथ 'दानवीर' जुड़ा ही रहा।

समाज में भी कुएं और बावड़ियां खुदवाना, धर्मशालाएं और मुसाफिरखाने संचालित करना जरूरी सामाजिक दायित्व माने गये। इसी तरह पशुओं और पर्यावरण की रक्षा करने का काम भी समाज की अहम् जिम्मेदारी में शामिल रहा।

भारत में सामाजिक कार्य की अवधारणा को राज्य की भूमिका और धर्म की अवधारणा के साथ जोड़ दिया गया। मसलन राजा ऐसे काम करेंगे, जिनसे सबका कल्याण हो, कोई भी गरीब या भूखा न रहे। किसी के साथ अन्याय न हो। जैसे सम्राट अशोक ने घोषणा की थी कि जरूरत पड़ने पर कोई भी, कभी भी सम्राट के पास आ सकता है।

भारत आये मुसलमानों ने भी दान और कल्याण की अवधारणा को आगे बढ़ाया। इस्लाम में 'जकात' की अवधारणा के अंतर्गत यह नियम था कि हर व्यक्ति अपनी आय का एक निर्धारित भाग गरीबों, वंचितों और समाज की भलाई के लिए खर्च करेगा। इस्लाम में 'खैरात यानी दान' की भी अवधारणा रही है।



यह एक स्थापित तथ्य है कि राज्य और बाज़ार हमेशा समाज के सभी पहलुओं को जान-समझ नहीं सकते हैं, न ही विविध पहलुओं के मुताबिक अपनी भूमिका का निर्वहन कर पाते हैं। तब अनछुए पहलुओं को छूने के लिए सामाजिक नागरिक संस्थाओं या सामाजिक नागरिक पहल की नींव पड़ती है।

राज्य किसी भी रूप का रहे, वह समाज के वंचित तबकों के प्रति किसी मुकाम पर आकर उदासीन हो ही जाता है। जब कोई राज्य व्यवस्था समाज के प्रभुत्व संपन्न व्यक्तियों/परिवारों/समुदाय को लाभान्वित करने के लिए जनकल्याणकारी राज्य की भूमिका से विचलित होती है, तब सामाजिक नागरिक संस्थाएं पहल करती हैं और राज्य की जवाबदेहिता को जागृत करती हैं।

इसके दूसरी तरफ बाज़ार हमेशा से 'श्रम' का शोषण करता रहा है। इससे बाज़ार को दो तरह के लाभ होते हैं—उसका मुनाफा बढ़ता है और वंचित तबकों पर उनका दबाव और नियंत्रण बना रहता है। ज्यादातर स्थितियों में राज्य और बाज़ार एक दूसरे को मजबूत करने में सहायता करते हैं।

3.2 उन्नीसवीं शताब्दी का सन्दर्भ

वर्ष 1800 में ईसाई मिशनरी विलियन कैरी, जोशुआ मार्शमैन और विलियन वार्ड ने कलकत्ता के उत्तर में सीरामपुर मिशन प्रेस की स्थापना की। इसका उद्देश्य बंगाल में जन शिक्षण को बढ़ावा देना और सामान्य लोगों को विभिन्न किताबें स्थानीय भाषा में कम कीमत पर उपलब्ध करवाना था। सीरामपुर मिशन प्रेस ने विभिन्न धार्मिक किताबों का बंगाली भाषा में अनुवाद करना शुरू किया। बाइबिल का अनुवाद स्वयं विलियन कैरी के निर्देशन में हुआ, जबकि रामायण और महाभारत का अनुवाद रामराम बसु और मृत्युंजय विद्यालंकार के निर्देशन में हुआ। इस प्रेस ने प्राचीन भारतीय साहित्य का बंगाली भाषा में अनुवाद करवाया। इसके साथ ही इन्होंने बंगाली गद्य को विकसित करने में भी बड़ी भूमिका निभाई। सीरामपुर मिशन प्रेस ने बच्चों के स्कूल के पाठ्यक्रम की किताबें भी प्रकाशित कीं। वर्ष 1817 में कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी की स्थापना हुई ताकि बच्चों को आसानी से पुस्तकें उपलब्ध करवाई जा सकें। यह सीरामपुर मिशन प्रेस की ही पहल थी, जिसके कारण बंगाल में साहित्य, आध्यात्म और पाठ्यक्रम की किताबों का अनुवाद संभव हुआ और पूरे बंगाल में जनशिक्षा का प्रसार हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में सर सैय्यद अहमद खान और शरियतुल्लाह ने मुस्लिम समाज में सुधारों, मसलन मुस्लिम समाज में जाति व्यवस्था की समाप्ति की जरूरत को महसूस किया। वर्ष 1863 में नवाब अब्दुल लतीफ़ ने मोहम्मडन लिटरेसी सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना की ताकि मुस्लिम समाज में शिक्षा का प्रसार किया जा सके। इसी समय पर्दा प्रथा और बहुविवाह सरीखी सामाजिक कुरीतियों को मिटाने की भी बात हो रही थी। वर्ष 1889 में मिर्जा गुलाम अहमद ने भारतीय मुसलमानों में आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का



प्रसार करने के लिए अहमदिया आन्दोलन की आधारशिला रखी।

भारत के हिन्दू समाज में विसंगतियों को दूर करने के लिए कई रचनात्मक आन्दोलन चले। वर्ष 1828 में राजा राम मोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन्होंने सती प्रथा और बाल विवाह की कुरीतियों को समाप्त करने के लिए समाज सुधार की पहल भी की। सामाजिक बदलाव का लक्ष्य राजा राम मोहन राय के लिए कोई शौकिया और आसान काम नहीं था। उन्होंने अपनी भाभी को सती होते हुए देखा था। जब उन्होंने सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ पहल की तो उन्हें सबसे पहले अपने परिवार से ही, अपने पिता से ही टकराना पड़ा और अपना घर छोड़ना पड़ा।

इसके बाद वर्ष 1867 में डॉ. आत्माराम पांडुरंग ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह, सब जातियों का सहभोज, विधवा विवाह और महिलाओं एवं वंचित जातियों के उत्थान के लिए पहल की। कुरीतियों से भरे माहौल में प्रार्थना समाज ने जो पहल की थी, वह इतना आसान काम नहीं था। इस समुदाय के सदस्यों ने ईसाइयों द्वारा पकाई गई रोटी खाई और मुसलमानों द्वारा लाया गया पानी पिया।

महात्मा ज्योतिबा फुले ने 1873 में सत्यशोधक समाज की स्थापना की। उनका मकसद भी जाति व्यवस्था को समाप्त करना तथा वंचित जातियों और महिलाओं को शिक्षा का अधिकार दिलाना था। सावित्री बाई फुले ने वर्ष 1848 में भारत में महिलाओं के लिए पहला विद्यालय खोला था।

वह ऐसा समय था, जब विधवा महिलाओं का सामाजिक-आर्थिक-शारीरिक शोषण होता था। जब शोषण से वे गर्भवती हो जातीं, तो उनका परित्याग कर दिया जाता या भ्रूण हत्या करवा दी जाती। इसे देखते हुए सावित्री बाई फुले ने वर्ष 1853 में महिलाओं और बच्चों की सुरक्षा के लिए एक आश्रय घर खोला। जिसका नाम था 'बाल हत्या प्रतिबन्ध गृह'। वहां शोषण की शिकार महिलाओं के सुरक्षित प्रसव होते थे और अगर महिलायें सोचती थीं कि उनके शिशु सुरक्षित नहीं रहेंगे, तब इसी गृह में उनका लालन-पालन होता था।

कलकत्ता के हिन्दू कालेज के विचारकों और चिंतकों ने 'युवा बंगाल आन्दोलन' (यंग बंगाल मूवमेंट) की नींव रखी। यह आन्दोलन वर्ष 1789 में हुई फ्रांस की क्रान्ति से बहुत प्रभावित था। इसका मकसद महिलाओं के अधिकारों और शिक्षा के अधिकार को स्थापित करना था।

धर्म को नस्ल, वर्ण, जाति या किसी भी भेद से ऊपर मानने वाले स्वामी विवेकानंद ने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की कोशिशों से हिन्दू पुनर्विवाह अधिनियम 1856 बना। वर्ष 1882 में रमाबाई द्वारा 'आर्य महिला समाज' नामक संस्था के स्थापना की गयी। इस संस्था ने कई स्थानों पर अनाथालयों का संचालन किया और लड़कियों की शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए स्कूलों की स्थापना की।



यह ऐसा दौर था, जब भारत के कुछ हिस्सों में जाति व्यवस्था को समाप्त करने और महिलाओं के साथ भेदभाव करने वाली व्यवस्था और व्यवहार को बदलने के लिए आन्दोलन जोर पकड़ चुके थे।

3.3 बीसवीं शताब्दी का सन्दर्भ

महात्मा गांधी ने अपनी पुस्तक 'मेरे सपनों का भारत' में लिखा है कि 'ग्राम आन्दोलन इसी बात का प्रयत्न है कि जो लोग सेवा की भावना रखते हैं, उन्हें गांवों में बसकर ग्रामवासियों की सेवा में लगने के लिए प्रेरित करके गांवों के साथ स्वास्थ्यप्रद संपर्क स्थापित किया जाए। जो लोग सेवाभाव से गांवों में बसे हैं, वे अपने सामने कठिनाइयों को देखकर हतोत्साहित नहीं होते। वे तो इस बात को जानकर ही वहां जाते हैं कि अनेक कठिनाइयों में, यहां तक कि गांव वालों की उदासीनता के होते हुए भी, उन्हें वहां काम करना है। जिन्हें अपने मिशन पर और स्वयं पर विश्वास है, वे ही गांव वालों की सेवा करके उनके जीवन पर कुछ असर डाल सकेंगे। जो सेवक ग्राम-सफाई का शास्त्र नहीं जानता, खुद भंगी का काम नहीं करता, वह ग्राम सेवा के लायक नहीं बन सकता। जब तक कानून से स्त्री और पुरुष के हक समान नहीं माने जाते, जब तक लड़की के जन्म का लड़के के जन्म जितना ही स्वागत नहीं किया जाता, तब तक समझना चाहिए कि हिंदुस्तान लकवे के रोग से ग्रस्त है'।

महात्मा गांधी जब दक्षिण अफ्रीका में थे, तब वर्ष 1894 में उन्होंने 'नटाल इंडियन कांग्रेस' की स्थापना की। वर्ष 1899 में बोयर युद्ध के दौरान 'इंडियन एम्बुलेंस कॉर्प' की स्थापना की। वर्ष 1904 में अपने पहले 'फिनिक्स आश्रम' और फिर वर्ष 1910 में दक्षिण अफ्रीका में ही 'टॉल्सटॉय फ़ार्म' की स्थापना की। महात्मा गांधी वर्ष 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे। उन्होंने अहमदाबाद के कोचरब में 'सत्याग्रह आश्रम' की स्थापना की और विकास की गतिविधियों पर आधारित कार्यक्रमों को आर्थिक तथा संसाधनों की आत्मनिर्भरता के कार्यक्रम की दिशा में मोड़ना शुरू किया। वे गांव-आधारित उद्योगों की व्यवस्था को स्थापित करना और सशक्त बनाना चाहते थे। उनका मानना था कि समाज की व्यवस्था में सुधार के बिना समाज का सशक्तिकरण नहीं हो सकता है। उन्होंने वर्ष 1916 में गुजरात में कपड़ा मिलों के मजदूरों के आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में 'मजूर महाजन' नामक संगठन की स्थापना की। वर्ष 1917 में 'साबरमती आश्रम', वर्ष 1920 में अहमदाबाद में 'गुजरात विद्यापीठ', वर्ष 1925 में 'अखिल भारतीय बुनकर संघ', वर्ष 1932 में 'हरिजन सेवक संघ' और फिर वर्ष 1934 में 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ' की स्थापना की।

महात्मा गांधी ने जितने सामाजिक नागरिक समूहों और संस्थाओं की स्थापना की, उतने संगठन शायद इतिहास में किसी और व्यक्ति ने स्थापित नहीं किये होंगे। महत्वपूर्ण बात यह है कि हर संस्था या संगठन की स्थापना के पीछे एक रचनात्मक सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक उद्देश्य रहा है। यह उल्लेख करना भी जरूरी है कि



महात्मा गांधी ने उन संस्थाओं का नियंत्रण अपने हाथों में लम्बे समय तक नहीं रखा। समाज में बदलाव के लक्ष्य हासिल करने के लिए मजबूत नेतृत्व तैयार करने की जरूरत होती है और उन्होंने सामाजिक नागरिक संस्थाओं के माध्यम से ऐसा ही नेतृत्व तैयार किया।

डॉ. भीमराव आंबेडकर ने भारतीय समाज की जाति और लिंगभेद आधारित व्यवस्था को सीधी चुनौती दी थी। जिस ताकत और मजबूती के साथ उन्होंने संघर्ष किया, उसी का परिणाम था कि वंचित तबकों के साथ होने वाले अमानवीय बर्ताव को समाप्त करने की प्रतिबद्धता भारत के संविधान में स्थापित हुई। डॉ. आंबेडकर ने भी सामाजिक नागरिक संस्थाओं के स्वरूप को अपनाया था। उन्होंने वर्ष 1923 में 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा', वर्ष 1930 में 'डिप्रेसड क्लास फेडरेशन (एसोसियेशन)', वर्ष 1942 में 'अनुसूचित जाति संघ' और वर्ष 1950 में 'भारतीय बौद्ध महासभा' की स्थापना की थी।

सामाजिक-आर्थिक बदलाव के हर महत्वपूर्ण उपक्रम में सामाजिक नागरिक संस्थाओं के वजूद को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। स्वतंत्रता के पश्चात सामाजिक नागरिक पहल के नजरिए से 1970 के दशक के मध्य में भारत में संचालित हुआ 'जयप्रकाश नारायण आन्दोलन' (जिसे सम्पूर्ण क्रान्ति आन्दोलन की संज्ञा भी दी जाती है) एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। हालांकि वर्ष 1972 में भारत में 'गरीबी हटाओ' का नारा आ गया था, लेकिन व्यवस्था में सुधार नहीं हुआ। तत्कालीन केंद्र और राज्य सरकारों (विशेषकर बिहार और गुजरात) पर गैर-जवाबदेहिता, भ्रष्टाचार और अकर्मण्यता के आक्षेप लग रहे थे। वर्ष 1974 में भ्रष्टाचार, बेरोजगारी और महंगाई जैसी बड़ी चुनौतियों के चलते गुजरात में 'नवनिर्माण अभियान' की शुरुआत हुई। गुजरात के एल.डी. कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग के छात्रों ने महंगाई और फीस में बढ़ोतरी के खिलाफ आन्दोलन शुरू किया। ये विषय महत्वपूर्ण थे और छात्रों एवं युवाओं ने शिक्षा व्यवस्था में बदलाव, महंगाई, भ्रष्टाचार, असमानता, बेरोजगारी जैसे मुद्दे भी उठाने शुरू किये। इसका परिणाम यह हुआ कि गुजरात की तत्कालीन चिमन भाई पटेल की सरकार उसी वर्ष गिर गयी।

इसी समय बिहार में बिहार छात्र संघर्ष समिति अस्तित्व में आयी। समाज की अनसुलझी समस्याओं के प्रति सरकार की उदासीनता और उपेक्षा ने युवाओं को संगठित पहल करने के लिए मजबूर किया। यह न तो प्रत्यक्ष रूप से दलीय राजनैतिक पहल थी, न ही मुनाफा कमाने वाले बाज़ार की पहल। युवाओं द्वारा शुरू किये गये आन्दोलन को गांधीवादी कार्यकर्ता जयप्रकाश नारायण का साथ मिला। उस समय वे सर्वोदय और भूदान के काम में जुटे हुए थे। यह तय हुआ कि आन्दोलन पूर्णरूप से अहिंसक होगा। जब आन्दोलन ने व्यापक रूप लेना शुरू किया तब 'जन संघर्ष समिति' का गठन हुआ। 5 जून 1974 को जय प्रकाश नारायण ने पटना में 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का आह्वान किया। यह तय किया गया कि समाज की, लोगों की स्थिति में सुधार लाने के लिए ऐसी सरकार लानी होगी, जो समाज को उसी के नजरिए से देखे और समझे। तब 'जनता सरकार' के



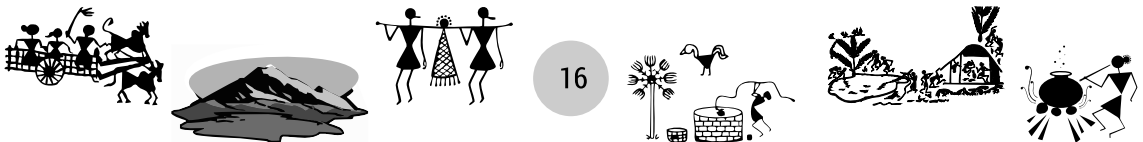
विकल्प को सामने रखा गया। देश के ज्यादातर हिस्सों में व्यवस्था के प्रति नाराजगी बढ़ती जा रही थी। जहां-जहां जन आन्दोलन हो रहे थे, उन्हें बर्बरता के साथ दबाने के लिए ताकत का इस्तेमाल किया जा रहा था। तब जन संघर्ष समिति ने तय किया कि यह आन्दोलन देश के कोने-कोने तक पहुंचाया जाएगा। हर जिले में सत्याग्रह करने का निर्णय लिया गया।

यूं तो वर्ष 1976 में आम चुनाव होने ही थे, लेकिन सामाजिक नागरिक पहल के फलस्वरूप सरकार पर दबाव बढ़ता गया और चुनाव के पहले ही 25 जून 1975 को तत्कालीन सरकार द्वारा देश में 'आपातकाल' लगा दिया गया। गरीबी, भ्रष्टाचार, गैर-जवाबदेहिता, लोकतांत्रिक मूल्यों के दमन और बेरोजगारी के सवाल पर खड़े हुए। सामाजिक नागरिक अभियान ने भारत में पहली बार सरकार को 'आपातकाल' लगाने पर मजबूर कर दिया। इसी आपातकाल ने भारतीयों को स्वतंत्रता और लोकतंत्र के अर्थ को समझने-महसूस करने का मौका भी दिया। आपातकाल के दौरान भारत में मानव अधिकारों का व्यवस्थागत उल्लंघन होना शुरू हुआ। वास्तव में देखा जाए तो इस समय के आने तक भारत में मानव अधिकारों पर संस्थागत बहस ही नहीं हो रही थी। समाज की समस्याएं ज्यादातर बुनियादी ढांचों और बुनियादी जरूरतों की पूर्ति तक ही सीमित थीं। सब कुछ आर्थिक विकास और सेवाधर्मिता (समाज और राज्य व्यवस्था दोनों ही तलों पर) के आसपास ही केन्द्रित था।

वर्ष 1976 में जयप्रकाश नारायण ने ही 'लोक स्वातंत्र्य संगठन' (पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज) की स्थापना की। यह संगठन तब से अब तक भारत में मानव अधिकारों की निगरानी, उनके संरक्षण, जन शिक्षा और न्यायिक पहल के नज़रिए से बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है।

समाज खुद पहल करके सामाजिक नागरिक अभियान का रूप ले लेता है। उत्तराखंड के चमौली के पहाड़ों के जंगल को सरकार ने ठेकेदारों से कटवाना शुरू किया तो लोग पेड़ों का आलिंगन करके खड़े हो गये। इस तरह वर्ष 1973 में चिपको आन्दोलन का जन्म हुआ। इस आन्दोलन में महिलाओं ने बहुत प्रभावी और अहम् भूमिका निभाई थी। उन्होंने ऐसा कर के सन्देश दे दिया था कि जंगल उनके जीवन से भी ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। इस सामाजिक नागरिक पहल में दशौली ग्राम स्वराज संघ ने अहम् भूमिका निभायी थी।

बीसवीं शताब्दी का सन्दर्भ इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि इस शताब्दी में से आधा भाग स्वतंत्रता के संघर्ष में गया। इसी शताब्दी में भारत का संविधान बना और इसी शताब्दी में भारत ने स्वतंत्र होकर अपने स्वतंत्र स्वरूप को गढ़ना शुरू किया। इसी शताब्दी में जन समस्याओं के चलते बड़े अभियान और आन्दोलन खड़े हुए और जनकल्याणकारी राज्य की अवधारणा के सामने भूमंडलीकरण-निजीकरण की आर्थिक नीतियों को खड़ा किया गया। यह समझना जरूरी है कि देश और दुनिया की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक चुनौतियों से सामाजिक नागरिक संस्थाओं की भूमिका का प्रत्यक्ष जुड़ाव होता है।



सामाजिक नागरिक संस्थाएं - मायने, पहचान और उनका नज़रिया

4.1 सामाजिक नागरिक संस्थाओं की पहचान

सामाजिक नागरिक संस्थाएं (सिविल सोसायटी ऑर्गनाइजेशन) वे इकाइयां होती हैं, जो न तो राज्य व्यवस्था का हिस्सा होती हैं, न ही निजी क्षेत्र का। ये संस्थायें समाज की जरूरतों को निरपेक्ष ढंग से बुनियादी मानवीय मूल्यों के नज़रिए से देखने, समझने और पहल करने के मकसद से बनायी जाती हैं।

इन संस्थाओं के विभिन्न स्वरूप होते हैं। मसलन स्वैच्छिक संस्थाएं, पंजीकृत संस्थाएं, ट्रस्ट, गैर-सरकारी संस्थाएं, अपंजीकृत संस्थाएं, संघ और संगठन, यूनियन, अभियान और आन्दोलन, वित्तीय सहायता प्रदान करने वाली संस्थाएं, शोध संस्थाएं, प्रशिक्षण और क्षमता वृद्धि संस्थाएं आदि। ये संस्थाएं मुख्य रूप से निम्न क्षेत्रों में अपनी भूमिका निभाती हैं -

- समाज के वंचित समूहों/लोगों को सेवाएं प्रदान करना।
- समस्याओं के निवारण के लिए मॉडल तैयार करना।
- सकारात्मक बदलाव के लिए नवाचार करना।
- समुदाय का सशक्तिकरण करना।
- शोध और अध्ययन करना।
- प्रशिक्षण और क्षमता वृद्धि की पहल करना।
- नीतियों में बदलाव के लिए वकालत।
- मानव अधिकारों का संरक्षण और स्थिति की निगरानी।
- व्यवस्था में मानवीय और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की पहल।
- शोषण, उपेक्षा और असमानता का प्रतिरोध।



भारत में संस्था पंजीयन का कानून 160 साल से ज्यादा पुराना है। इसे 'सोसायटी रजिस्ट्रेशन एक्ट, 1860' कहा जाता है। स्वतंत्रता के बाद भारत के विभिन्न राज्यों ने संस्थाओं, समितियों, ट्रस्ट के पंजीकरण के लिए अपने-अपने कानून बनाये और संस्थाओं के पंजीयन के काम को ढांचागत स्वरूप प्रदान किया। कंपनी पंजीयन अधिनियम में भी अलाभकारी (नॉट फॉर प्रॉफिट) कंपनी गठित करने की व्यवस्था है।

वर्ष 1976 में विदेशी अनुदान लेने के लिए 'विदेशी अनुदान विनियमन अधिनियम' (फॉरेन कांट्रीब्यूशन रेगुलेशन एक्ट) बनाया गया। इसमें समय-समय पर संशोधन होते रहे हैं।

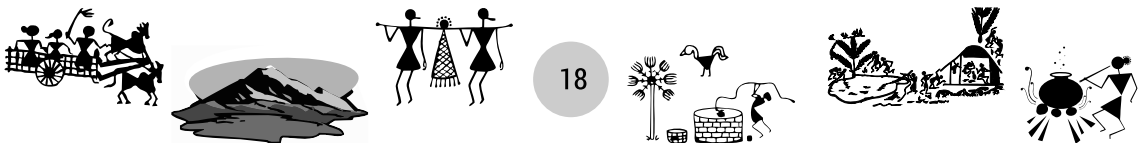
भारत में उक्त संस्थाओं की परिभाषा भी स्पष्ट नहीं है। मौजूदा कानूनी प्रावधानों में अशासकीय संस्थाएं, ट्रस्ट, मंदिर समिति, गुरुद्वारा, वक्फ, चर्च, स्कूल, महिला मंडल, युवा मंडल, अलाभकारी कम्पनियां आदि सभी पंजीकृत होते हैं। अतः इन सभी को सामाजिक नागरिक संस्था के रूप में मान्यता मिल जाती है। यह समझना भी जरूरी है कि उक्त संस्थाओं का एक बड़ा समूह ऐसा भी है, जो किन्हीं कानूनों के तहत पंजीकृत नहीं होता है। बहरहाल उनके अपने दिशानिर्देश और उद्देश्य होते हैं और वे अपने तय लक्ष्यों को हासिल करने के लिए संघर्षरत रहते हैं। जन आन्दोलन और क्षेत्रीय-राष्ट्रीय अभियान ऐसे ही स्वरूप में काम करते हैं।

4.2 सामाजिक नागरिक पहल - संस्थाएं बनाम जन आन्दोलन और अभियान

जब हम सामाजिक नागरिक संस्थाओं की बात करते हैं, तब इसके दो पक्ष उभरते हैं। इन पक्षों को स्वीकार करना या अस्वीकार करना जरूरी नहीं है, लेकिन समझना बहुत जरूरी है। क्योंकि यह एक व्यावहारिक बहस है। संस्थाओं और जन आन्दोलनों, दोनों को ही सामाजिक नागरिक पहल के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, लेकिन इनके बीच के चारित्रिक अंतर को समझना जरूरी है।

इस पहलू पर बात करने का उद्देश्य इनके महत्व और प्रभाव की तुलना करना नहीं है। मूल बात यह है कि कौन ज्यादा स्वतंत्रता के साथ काम कर सकता है? संस्थाओं और जन आन्दोलनों में से विसंगतियों के मूल कारणों पर कौन पहल करता है? संसाधनों के सन्दर्भ में समाज के संसाधनों पर कौन निर्भर है और संस्थागत संसाधनों पर कौन ज्यादा निर्भर है? सामाजिक-आर्थिक बदलाव की पहल में समुदाय कहाँ ज्यादा सक्रिय भूमिका में होता है? कौन सा समूह अन्याय, शोषण और असमानता का प्रतिरोध करता है?

भारत में उक्त संस्थाओं को प्रचलित भाषा में गैर-सरकारी संस्था (एनजीओ), स्वैच्छिक संस्था और सामाजिक संस्था कहा जाता है। ये संस्थाएं एक उद्देश्य को लेकर समाज के बीच में काम करती हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या ये संस्थाएं वास्तव में स्वतंत्र रूप से अपने उद्देश्य और लक्ष्य के लिए काम कर पाती हैं? क्या संस्था के निर्णय और प्राथमिकताएं उन्हें मिलने वाली आर्थिक सहायता से प्रभावित नहीं होते हैं? जो संस्था उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करती है, क्या वह उन्हें स्वतंत्र रूप से अपने नजरिए के मुताबिक काम करने की स्वतंत्रता प्रदान



करती है? यह एक सच्चाई है कि उक्त संस्थाओं की प्राथमिकताओं और लक्ष्यों को आर्थिक सहायता प्रदान करने वाली संस्थाओं के विचार और विचारधारा का प्रभाव पड़ सकता है। पूरी दुनिया में, खासकर 1980 के दशक में भूमंडलीकरण की संगठित शुरुआत के बाद अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं (जैसे विश्व बैंक, एशियाई विकास बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि) ने विकासशील देशों की नई आर्थिक नीतियों और व्यवस्था को आकार देने में सीधी और निर्णायक भूमिका निभाई। जिस तरह की नीतियाँ लागू की जा रही थीं, उनसे किसानों, मजदूरों, आदिवासियों और समाज में असंतोष पैदा होना स्वाभाविक था। उस असंतोष को कमजोर करने के लिए विकास की योजनाओं में संस्थाओं की सहभागिता का प्रावधान किया गया। इस प्रक्रिया में सामाजिक संस्थाओं को भी शामिल किया गया, लेकिन यह देखा गया कि चर्चाओं-संवादों में ऐसी संस्थाओं की सहभागिता ज्यादा रही, जो भूमंडलीकरण की नीतियों से कम या ज्यादा हद तक सहमत थे। जो संस्थाएं असहमत थीं, उन्हें संवादों में शामिल नहीं किया गया। दूसरी बात यह भी उभरी कि अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं ने अलग-अलग साझेदारों और संस्थाओं को संवाद में शामिल जरूर किया, लेकिन उन संवादों के निष्कर्ष पहले से ही तैयार करके रखे गए थे और ज्यादातर को ज्यों का त्यों ही लागू किया गया।

वास्तव में उक्त संस्थाओं की भूमिका को वैश्विक आर्थिक राजनैतिक सन्दर्भ में समझने की जरूरत होती है। यह प्रश्न हमेशा से मानक प्रश्न रहा है और प्रासंगिक भी कि सामाजिक संस्थाओं के आर्थिक संसाधनों के स्रोत क्या हैं? उदाहरण के लिए यह देखा जा रहा है कि भारत में खनन का काम करने वाले व्यापारिक प्रतिष्ठान सामाजिक संस्थाओं को 'विकास और बदलाव के लिए' आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। इन प्रतिष्ठानों के कारण जल स्रोत दूषित हो रहे हैं, लोग बीमार पड़ रहे हैं, पर्यावरण को गंभीर नुकसान पहुँच रहा है। ऐसे में क्या संस्थाएं समाज की इन समस्याओं के बारे में आवाज उठा पाएंगी? क्या इन मूल कारणों को सामने लाने की पहल करेंगी, जो लोगों की बीमारी का कारण बन रहे हैं? आज कोई बड़ा औद्योगिक समूह देश भर में निजी शिक्षण संस्थान संचालित कर रहा है, तो क्या संस्थाएं ऐसे समूहों से आर्थिक सहायता लेकर समान शिक्षा प्रणाली या सबके लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के अधिकार के लिए वकालत कर पाएंगी? इतना ही नहीं, अगर सरकार से आर्थिक अनुदान लेकर अपने कार्यक्रम संचालित करती हैं, तो क्या फिर वे सरकार की विसंगतिपूर्ण नीतियों का प्रतिरोध या आलोचना कर पाएंगी? यह सामाजिक संस्थाओं के सामने नैतिक दुविधा खड़े करने वाले प्रश्न हैं। ऐसी स्थिति में लगता है कि सामाजिक संस्थाएं महज विकास की योजनाओं के क्रियान्वयन में सहयोगी भूमिका निभाने वाली इकाइयां बन जाती हैं, जो असमानता, अन्याय और गरीबी के मूल कारणों पर सीमित काम ही कर पाती हैं।

अब तो सरकार ही अनुदान का सबसे बड़ा स्रोत है। इसका मतलब है – ऐसी स्थिति में राज्य की नीतियों, उनकी कार्यशैली, राज्य के द्वारा किये जाने वाले दमन और योजनाओं की प्रभावी आलोचना करने की स्वतंत्रता



का सीमित होना।

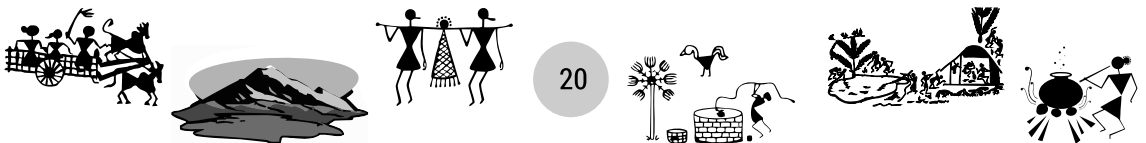
सामाजिक नागरिक क्षेत्र में समूहों/संस्थाओं का एक स्वरूप है – जन आन्दोलन और अभियान का। मुख्य रूप से सामाजिक आन्दोलन और अभियान ऐसी पहल होते हैं, जिसमें लोगों की, समाज की, समस्या से प्रभावित लोगों की सीधी और सक्रिय भूमिका होती है। जब लोग खुद समस्या को पहचान कर संगठित होते हैं, उसके मूल कारणों को समझकर बदलाव की पहल करते हैं, तब उस पहल को जन आन्दोलन कहा जाता है। ऐसी पहल करने के लिए जो संस्थागत स्वरूप उभरता है, वह जन संगठन होता है। वास्तव में जन संगठन राज्य व्यवस्था और समाज के मूल चरित्र को समझते हुए पहल करते हैं। इसमें उनकी कार्यवाही के लिए संसाधनों का सबसे प्रमुख स्रोत लोगों का समूह ही होता है। जो लोग संघर्ष कर रहे होते हैं, वे स्वयं अपने योगदान देते हैं। इसके साथ ही समाज में एक बहुत बड़ा तबका ऐसा होता है, जो उनके नज़रिए और संघर्ष से सरोकार रखता है। वे लोग भी अपनी तरफ से योगदान देते हैं।

वास्तव में सामाजिक संस्थाओं और जन संगठनों के बीच दूरी रही है। जन संगठन और जन आन्दोलनों की यह मान्यता रही है कि गैर-सरकारी संस्थाएं व्यवस्थागत बदलाव के लिए पहल करने के लिए तैयार नहीं होती हैं। चूंकि वे विभिन्न संस्थागत स्रोतों से आर्थिक अनुदान लेती हैं, इसलिए उनकी प्रतिबद्धता कमजोर पड़ जाती है। उनका यह भी सोचना रहा है कि जन आन्दोलन आरामदायक माहौल में नहीं किये जाते हैं, इसके लिए उन कठिन परिस्थितियों में जीवन जीना होता है, जिनमें समुदाय के लोग रहते हैं।

4.3 सामाजिक नागरिक संस्थाओं का फैलाव

नीति आयोग ने सामाजिक नागरिक संस्थाओं (पंजीकृत) को एक मंच पर लाने के लिए 'दर्पण पोर्टल' नामक मंच तैयार किया था। 2 मई, 2022 की स्थिति में नीति आयोग के 'दर्पण पोर्टल' पर 43 विषयों/क्षेत्रों पर कुल 1,39,712 संस्थाएं पंजीकृत थीं। ये संस्थाएं एक से ज्यादा विषयों पर काम कर रही हैं। इनमें से कृषि के क्षेत्र में 33,182, लोक स्वास्थ्य और परिवार कल्याण के क्षेत्र में 53,805, ग्रामीण विकास और गरीबी उन्मूलन के लिए 35,057, महिला सशक्तिकरण के लिए 47,893, शिक्षा और साक्षरता के लिए 80,322, बच्चों के अधिकारों के लिए 50,491, दलितों के उत्थान के लिए 18,717, युवाओं के लिए 24,676, पर्यावरण और वन संरक्षण के लिए 37,013, आदिवासियों के विकास के लिए 16,250, पोषण के लिए 16,951, शहरी विकास और गरीबी उन्मूलन के लिए 17,980 और दिव्यांगों के सशक्तिकरण के लिए 22,363 संस्थाएं सक्रिय हैं।

अगर राज्यवार आंकड़े देखें तो नीति आयोग के दर्पण पोर्टल के मुताबिक उत्तरप्रदेश से सबसे ज्यादा 19,760 और महाराष्ट्र से 19,026 संस्थाएं दर्ज हैं। इसके साथ ही पश्चिम बंगाल से 10,509, दिल्ली से 10,800, तमिलनाडु से 9,804, मध्यप्रदेश से 6,598, गुजरात से 6,787, राजस्थान से 5,260, बिहार से 4,837 और



ओडिशा से 4,080 संस्थाएं इस पोर्टल पर दर्ज हैं।

एक अन्य सन्दर्भ है सामाजिक नागरिक संस्थाओं को आयकर अधिनियम के तहत मिलने वाली छूट का। अप्रैल 2022 की स्थिति में भारत में 2,20,225 संस्थाएं आयकर अधिनियम के तहत सामाजिक संस्था के रूप में पंजीकृत हैं, जिन्हें आयकर में छूट मिलती है।

इन आंकड़ों से क्या चित्र उभरता है? स्पष्ट चित्र तो यही है कि भारत में सामाजिक नागरिक संस्थाओं का व्यापक फैलाव है, ये संस्थाएं सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों और सभी राज्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। लेकिन इसके बावजूद उनके बारे में सामान्य धारणा सकारात्मक नहीं है। उनके बारे में यही माना जाता है कि यह क्षेत्र गैर-जवाबदेह है।

एक मिथक वर्ष 2009 में यह बताकर रचा गया था कि भारत में लगभग 32 लाख सामाजिक नागरिक संस्थाएं हैं। उनमें से कईयों का वजूद नहीं है। यह आंकड़ा केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने जारी किया था। भारत में जिन नियमों और कानूनों के तहत सामाजिक संस्थाओं का पंजीयन किया जाता है, उन्हीं के तहत वक्फ, स्कूल, गुरुद्वारा, मंदिर, मस्जिद, यूनिशन, महिला मंडल आदि सभी दर्ज होते हैं, अतः भारत में सामाजिक-आर्थिक बदलाव के लिए काम करने वाली संस्थाओं के दायरे को वास्तविक स्वरूप में पहचान पाना बहुत कठिन है। फिर वर्ष 2012 में केन्द्रीय सांख्यिकी कार्यालय (सांख्यिकी और कार्यक्रम क्रियान्वयन मंत्रालय, भारत सरकार) ने सभी पंजीकृत संस्थाओं की गणना करवाई। इससे पता चला कि देश में पंजीकृत कुल 32 लाख संस्थाओं में से 22 लाख संस्थाओं का भौतिक सत्यापन किया गया। इनमें से 6.94 लाख संस्थाओं को अपने स्थान पर पाया गया। इसका मतलब यह हो सकता है कि लगभग 31 प्रतिशत संस्थाएं ही वजूद में पायी गयीं। वास्तव में यह एक भ्रमित करने वाला कथानक है।

4.4 सामाजिक नागरिक संस्थाएं और विचारधाराएं

सामाजिक नागरिक संस्थाओं का स्वाभाविक आधार 'विचार' जरूर होते हैं लेकिन उनकी प्रभावशाली भूमिका के चलते उसमें 'धाराएं' भी जुड़ती गयी हैं। स्वतंत्रता के बाद से यह बुनियादी लक्ष्य रहा कि किस तरह से आर्थिक विकास की प्रक्रिया को मजबूत बनाया जाए। जो भी प्रक्रियाएं चलीं, उनमें 'विचारधाराएं' इतनी महत्वपूर्ण नहीं रहीं, जितने कि 'आदर्श और विचार' महत्वपूर्ण रहे। इसके लिए गांधीवादी विचार को सर्वोदय के रूप में प्रस्तुत किया गया।

वर्ष 1960 के दशक में जब आर्थिक विकास के लिए विदेशी सहायता आना शुरू हुई, तभी से 'विचारों' से आगे बढ़कर विचारधाराओं का संघर्ष शुरू हुआ। इस प्रक्रिया में 'अनुदान या आर्थिक सहायता की मंशा' पर बहस होने लगी। भारत में कृषि क्षेत्र में 'हरित क्रान्ति' के सन्दर्भ में यह बहस और ज्यादा स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई।



भारत में उक्त संस्थाओं के सन्दर्भ में एक विचारधारा 'वामपंथी' मानी जाती है। जिसमें संसाधनों पर लोगों के नियंत्रण की वकालत की जाती है। संसाधनों के समान वितरण को एक अहम् लक्ष्य माना गया। यह विचार भारत की राज्य व्यवस्थाओं को स्वीकार नहीं रहा है। इस विचार में व्यक्ति और समुदाय की पहचान का संरक्षण एक महत्वपूर्ण पहलू है। मसलन आदिवासी समुदाय की अपनी स्वतंत्र पहचान है और उसका संरक्षण किया जाना चाहिए।

दूसरी विचारधारा 'दक्षिणपंथी' मानी गयी। जिसमें धर्म और परम्परागत संस्कृति पर आधारित विचार को विकास का आधार माना जाता है। इस विचार में समाज में मौजूद सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक अंतर्द्वंद और विसंगतियों को चुनौती नहीं दी जाती है।

सामाजिक नागरिक संस्थाओं में एक विचार 'विकास' पर ही केन्द्रित रहता है। इसमें माना जाता है कि समाज से वंचितपन, गरीबी और अभाव की स्थिति को हटाने की पहल की जाए। इसमें 'विचारधारा' का कोई विशेष आग्रह नहीं रहता है।

अब हम देखते हैं कि उक्त संस्थाओं का एक बड़ा समूह है, जो संवैधानिक मूल्यों को आधार बनाकर समुदायों के बीच में काम करती हैं। इसमें लैंगिक भेदभाव, जाति या धर्म के आधार पर दुराग्रह रखते हुए व्यवहार करने वाली व्यवस्था को चुनौती दी जाती है।

भारत का संविधान भारत में संघ और संगठन निर्माण को 'मूलभूत' अधिकार का दर्जा देता है। लोग एकजुट हो सकते हैं, इकट्ठा हो सकते हैं और रचनात्मक या संघर्ष का काम कर सकते हैं। इसी संवैधानिक व्यवस्था के चलते सामाजिक नागरिक संस्थाओं को स्वीकार्यता मिलती है। लेकिन पिछले पांच दशकों में भारत में राजनीतिक दलों और सरकारों ने सामाजिक नागरिक संस्थाओं को अपने आलोचक और विरोधी के रूप में देखा है। जब 1970 के दशक में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में सम्पूर्ण क्रान्ति का आन्दोलन हुआ था, उसने तत्कालीन इंदिरा गांधी सरकार के सामने बहुत असहज बनाने वाली स्थितियां निर्मित कर दी थीं। उस वक्त यूँ ही सरकार के प्रति समाज में असंतोष बढ़ रहा था, लेकिन सरकार यह मान रही थी लोगों में सरकार के प्रति 'असंतोष' सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने पैदा किया है।

इन परिस्थितियों में सरकार ने जयप्रकाश नारायण को सीआईए का एजेंट तक करार दिया था। सीआईए अमेरिका की गुप्तचर संस्था है और बार-बार सामाजिक नागरिक संस्थाओं के बारे में यह सामान्य वक्तव्य दिया जाता रहा है कि सामाजिक नागरिक संस्थाएं सीआईए या विदेशी ताकतों के एजेंट के रूप में काम करती हैं। कोशिश यह रही है कि उक्त संस्थाओं की विश्वसनीयता और वैधानिकता को चोट पहुंचाई जा सके। आर्थिक संसाधन देने वाली संस्थाएं और सरकार भी यह दबाव बनाने में शामिल होती हैं।



सामाजिक नागरिक संस्थाएं - आधारभूत भूमिकाएं

5.1 सामाजिक नागरिक संस्थाएं और उनकी समाज के बारे में समझ

आजकल बहुत आसानी से सामाजिक नागरिक संस्थाओं की प्रतिबद्धता और उनकी समाज कल्याण में भूमिका को चुनौती दी जा रही है। लेकिन हम सबको एक बार अपने आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि समाज में महिलाओं की दायम दर्जे की स्थिति और उनके साथ होने वाले शोषण की ढांचागत व्यवस्था को किसने उजागर किया? सरकारों, राजनीतिक दलों और समाज ने या फिर उक्त संस्थाओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने?

समाज में तीसरे लिंग के व्यक्तियों/समुदाय के जीवन के पहलुओं पर किसने पहल शुरू की? सरकारों और समाज ने या फिर सामाजिक नागरिक संस्थाओं, राजनीतिक दलों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने?

स्वास्थ्य और शिक्षा हर व्यक्ति का अधिकार बनें, इसके लिए किसने पहल की? सरकारों, राजनीतिक दलों और समाज ने या फिर सामाजिक नागरिक संस्थाओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने?

समाज के वंचित समुदायों के साथ होने वाले भेदभाव और छुआछूत की सच्चाई को किसने उजागर करके बदलाव की पहल की? सरकारों, राजनीतिक दलों और समाज ने या फिर सामाजिक नागरिक संस्थाओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने?

नदियों, पहाड़ों, जंगलों यानी व्यापक पर्यावरण की कीमत पर आर्थिक विकास न किया जाए, इस प्रश्न को उठाने की पहल किसने की? सरकारों, राजनीतिक दलों और समाज ने या फिर सामाजिक नागरिक संस्थाओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने?

जेलों में विभिन्न अपराधों की सजा भुगत रहे कैदियों को अमानवीय स्थितियों में न रखा जाए, यह विषय किसने उठाया? सरकारों, राजनीतिक दलों और समाज ने या फिर उक्त संस्थाओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने?

भारत का इतिहास और सांस्कृतिक पहचान सहिष्णुता, करुणा, सत्य, अहिंसा और सह-अस्तित्व के मूल्यों से गढ़ी गई है, लेकिन निहित राजनीतिक हितों के लिए समाज में बंटवारे और बिखराव की राजनीति स्थापित की जा रही है। इस विसंगतिपूर्ण राजनीति को किसने चुनौती दी? सरकारों और समाज ने या फिर उक्त और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने?



एक नागरिक, एक इंसान और एक सभ्य जीव के रूप में यह सोचा जाना चाहिए कि उपरोक्त मुद्दों पर सामाजिक नागरिक संस्थाओं द्वारा की गई कोशिशें भारत और भारत के समाज के खिलाफ हैं या बेहतर भारत के निर्माण की मंशा से की गई कोशिशें हैं ? जिस तरह समाज में भी एक वर्ग-एक समूह भ्रष्ट, अनैतिक और दुराचारी होता है, लेकिन हम इनके कारण पूरे समाज और पूरी राजनीतिक व्यवस्था को खारिज नहीं कर देते हैं, उसी तरह सामाजिक नागरिक संस्थाओं में भी एक वर्ग-एक समूह इस तरह की पृवृत्ति वाला हो सकता है और उनके कारण सामाजिक नागरिक संस्थाओं के वजूद और उनकी भूमिका को खारिज नहीं किया जा सकता है।

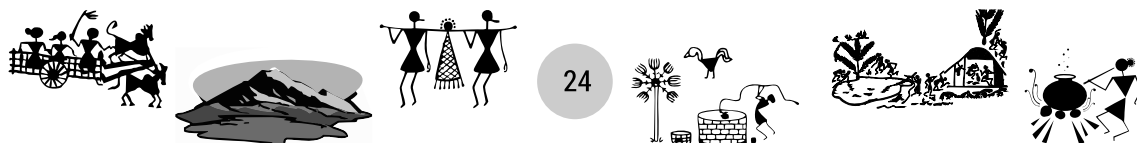
5.2 नयी आर्थिक नीतियों का सन्दर्भ - संघर्ष और निर्माण

भारतीय सन्दर्भों में सामाजिक-आर्थिक बदलाव में सामाजिक नागरिक समूहों और आन्दोलनों की भूमिका तो हम स्पष्ट रूप से देख ही सकते हैं, लेकिन कुछ बेहद महत्वपूर्ण प्रयोगों ने यह साबित किया है कि सामाजिक नागरिक पहल के नज़रिए में संघर्ष और निर्माण की साझा प्रतिबद्धता होना चाहिए।

मध्यभारत के छत्तीसगढ़ क्षेत्र में (जो अब एक राज्य है) 1980 के दशक में शंकर गुहा नियोगी ने मजदूरों के हकों के लिए आन्दोलन खड़ा किया। शंकर गुहा नियोगी ने दिल्ली-राजहरा की खदानों के मजदूरों के साथ छत्तीसगढ़ खदान मजदूर संघ और ग्रामीण श्रमिक संघ के गठन के माध्यम से मजदूरों और ग्रामीण समाज के लिए संघर्ष की शुरुआत की थी। संघर्ष की यह प्रक्रिया आर्थिक-राजनीतिक नज़रिए से प्रभावित थी और आगे चल कर इसी नज़रिए का विस्तार छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के गठन के रूप में हुआ। मजदूरों को बेहतर मजदूरी, काम की बेहतर स्थितियां, स्वास्थ्य और शिक्षा का अधिकार, शराब पर नियंत्रण सरीखे मुद्दों पर लोगों को एकजुट और संगठित किया।

छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा का अनुभव बताता है कि सामाजिक-आर्थिक बदलाव को राजनीतिक प्रक्रियाओं से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। अगर हमें समस्याओं का हल हासिल करना है तो हमें अपनी राजनीतिक व्यवस्था में जनपक्षधरता लाना होगी। चूंकि लोकतंत्र में व्यवस्था का आधार नीतियां और क़ानून होते हैं, और नीतियों और क़ानूनों का निर्माण जनप्रतिनिधि करते हैं, जिनका चुनाव लोगों को करना होता है। अतः यह जरूरी है कि हम राजनीतिक मूल्यों और सही प्रतिनिधियों के चुनाव में अपनी भूमिका को समझें।

शंकर गुहा नियोगी के विचार ने यह बताया कि जब सामाजिक नागरिक आन्दोलन संघर्ष के साथ ही निर्माण के विचार को भी लागू करते हैं, तब संघर्ष और बदलाव के काम में ऊर्जा बनी रहती है। नए विचार आते रहते हैं और संघर्ष का काम ज्यादा व्यावहारिक हो जाता है। उन्होंने वास्तव में विचारधारा ही बदलने की बात की थी। अब तक यही माना जाता रहा है कि समाज में निर्माण का हर काम शासन या सत्ता द्वारा कराया जाता है, इसमें



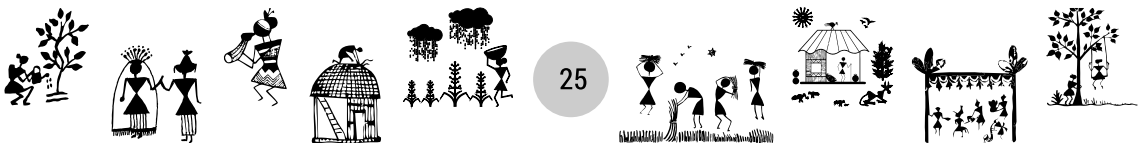
समाज की कोई भूमिका नहीं रहती है। उन्होंने यह पहल की कि यदि समाज खुद निर्माण के काम में जुटे तो उसकी शासन पर से निर्भरता कम हो सकती है और इससे शोषण पर लगाम लगाई जा सकती है।

लगभग यही समय था, जब 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' अस्तित्व में आया। मध्यप्रदेश में नर्मदा नदी पर बनने वाले बांधों के कारण समाज, संस्कृति और पारिस्थितिकी को होने वाले नुकसानों को जानते-समझते हुए, वैकल्पिक विकास की अवधारणा पर बहस शुरू हुई। नदियों पर बाँध बनने से मानव समाज और प्रकृति को कितना आघात लगता है, यह बात नर्मदा बचाव आन्दोलन ने 1980 के दशक में बताना शुरू कर दी थी। यह बात बीस-तीस सालों बाद देश और दुनिया के विशेषज्ञों को समझ में आना शुरू हुई।

भारत में अगला बदलाव आया वर्ष 1991 में जब भारत ने अपनी आर्थिक नीतियों को बुनियादी रूप से बदलने का निर्णय लिया। सोवियत संघ के विघटन के बाद दुनिया का आर्थिक-राजनैतिक नक्शा तेजी से बदल रहा था। भारत भी इससे प्रभावित हुआ था। देश के सामने खड़े आर्थिक संकट को भारत ने अपनी असल पूंजी यानी लोग, समाज, प्राकृतिक संसाधन, विकेंद्रीकरण से सुलझाने के बजाय 'बाज़ार केन्द्रित' नीति को तवज्जो दी। यह मान लिया गया कि भारत को अब अपने बाज़ार (यानी उत्पादन, भण्डारण, प्रसंस्करण, सेवाएं, तकनीक आदि) वैश्विक बाज़ार के लिए खोल देने चाहिए। यह नीति स्वीकार कर ली गयी कि किसी भी देश से कोई भी यहां पूंजी निवेश (कुछ क्षेत्रों को छोड़ कर) कर सकता है और मुनाफा कमा सकता है। भारत में किया जाने वाला उत्पादन भी दुनिया के दूसरे देशों को निर्यात किया जा सकता है और दूसरे देशों का उत्पाद भारत में आयात किया जा सकता है। इसके लिए आयात-निर्यात के नियम शिथिल किये जाने लगे। इसे भूमंडलीकरण कहा गया।

भूमंडलीकरण की स्थिति में स्वाभाविक है कि भारत को अपनी आर्थिक नीतियों, नियमों, कानूनों और व्यवस्था में बदलाव करने के लिए भी बाध्य होना था। आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के तहत ये बदलाव लाये गये। सुधारों का महत्वपूर्ण हिस्सा था निजीकरण को बढ़ावा देना। तब तक भारत में कई क्षेत्रों, मसलन बैंकिंग सेवाओं, बीमा, कोयले, पेट्रोल, खनिज, अधोसंरचना का निर्माण, ऊर्जा, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि में सरकार का नियंत्रण था। नयी आर्थिक नीतियों के तहत तय किया गया कि अब लगभग सभी क्षेत्र निजी क्षेत्रों के लिए खोल दिए जायेंगे। यानी सरकार सेवाएं देने या उत्पादन करने की भूमिका कम से कम निभाएगी। तब निजी क्षेत्र ने अस्पताल, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय खोलने शुरू किये। कोयले और खनिजों की खदानें निजी कंपनियों को दी जाने लगीं। निजी बीमा और बैंकिंग कंपनियां स्थापित हुईं। कई क्षेत्रों में जबरदस्त निजीकरण हुआ। कई उत्पाद (जैसे कपास) विदेशों से सस्ती दर पर भारत आने लगे, इससे उनका देशी उत्पादन प्रभावित होने लगा।

इन आर्थिक नीतियों का दूसरा असर यह हुआ कि 'राज्य' ने समाज के प्रति अपनी भूमिका सीमित करनी शुरू



कर दी। स्वाभाविक सी बात है कि निजी अस्पताल गरीबों और वंचितों को तो मुफ्त हलाज मुहैया नहीं करवाएंगे या फिर निजी स्कूल वंचित तबकों के बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा उपलब्ध नहीं करवाएंगे। यह सवाल भी खड़ा हुआ कि लोगों को रोजगार कौन देगा? नयी तकनीकों के इस्तेमाल से रोजगार के अवसर कम होने लगे और अब सरकार ने भी नयी आर्थिक नीतियों का हवाला देकर जनकल्याणकारी नीतियों को छोड़ना शुरू कर दिया था। एक मायने में 'राज्य' अब अपनी संवैधानिक जिम्मेदारियों को छोड़ने लगा था।

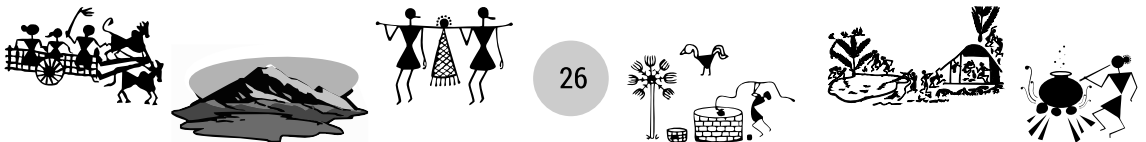
इन परिस्थितियों में उक्त संस्थाओं की भूमिका नये सिरे से परिभाषित होने लगी। स्वास्थ्य, शिक्षा, खाद्य सुरक्षा, रोजगार आदि के बिना जीवन जीने का मूलभूत अधिकार सुरक्षित नहीं हो सकता था। तब सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने मानव अधिकारों के नजरिए से समाज और खासकर वंचित तबकों के मूलभूत अधिकारों के संरक्षण के लिए संगठित पहल करना शुरू की। अब सामाजिक-आर्थिक बदलाव की पहल को 'अधिकार आधारित नजरिए' से देखा-समझा जाने लगा।

इस दौर में संस्थाओं ने दो तरीकों से अपनी भूमिका को परिभाषित किया - संघर्ष और निर्माण। राज्य की नीतियों में समाज और देशज संसाधनों का संरक्षण नहीं, बल्कि इनका दोहन महत्वपूर्ण था। ढांचागत विकास (बांध, सड़क, बड़े उद्योगों का समूह आदि) के कारण गांवों और जंगलों के बीच रहने वाले परम्परागत समाज का विस्थापन शुरू हुआ। देश के वंचित और गरीब लोगों को मुफ्त शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएं देना राज्य की प्राथमिकता में नहीं रहा। ऐसे में सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने समाज के गरिमामय जीवन के अधिकार के लिए संघर्ष की नीति को अपनाया।

भारत के सामने गरीबी, बेरोजगारी और सामाजिक-आर्थिक असमानता की चुनौतियां मौजूद थीं और सरकार इन्हीं समस्याओं के निराकरण के लिए आर्थिक नीतियों की पक्षधर बनी। इसके दूसरी तरफ सामाजिक नागरिक संस्थाओं का विचार था कि समाज केन्द्रित नजरिए से विकास की योजनाएं बनाकर और संसाधनों के समान वितरण से गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी और सामाजिक-आर्थिक असमानता को मिटाया जा सकता है। अपने इसी विचार को स्थापित करने के लिए सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने समुदाय के बीच जमीनी स्तर पर मॉडल बनाने शुरू किये।

5.3 राहत और पुनर्वास का सन्दर्भ

विगत 30 वर्षों में भारत में ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में प्राकृतिक और मानव निर्मित आपदाओं से प्रभावित लोगों को राहत और पुनर्वास सहायता पहुंचाने में उक्त संस्थाओं की व्यापक भूमिका सामने आयी है। लातूर और भुज के भूकंप, उत्तराखंड और कश्मीर की बाढ़ और लगातार बन रही सूखे की स्थितियों में सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने आपदा से प्रभावित समुदायों को तत्काल सहायता उपलब्ध करायी है। यह एक स्थापित



तथ्य है कि सामाजिक नागरिक संस्थाएं सामाजिक व्यवस्था को बेहतर तरीके से जानती-समझती हैं, इसलिए उन्हें समुदाय के बीच पहुंचने में ज्यादा समय नहीं लगता है और यही पहुंच आपदा के समय सबसे महत्वपूर्ण होती है।

उक्त संस्थाओं ने विभिन्न स्तरों पर सामाजिक कार्यकर्ताओं और स्वयंसेवकों का मजबूत आधार बनाया है। यही आधार आपातकालीन स्थितियों और आपदाओं के दौरान लोगों को मदद पहुंचाने में एक शक्ति के रूप में काम करता है। वर्ष 1999 के ओडिशा के चक्रवात (सायक्लोन) में उक्त संस्थाओं ने आपदा प्रभावित लोगों को न केवल तत्काल भोजन और दवाइयां उपलब्ध करवाई थीं, बल्कि मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था भी खड़ी की थी। तब उजड़े हुए घरों को फिर से बनाने में भी उक्त संस्थाओं ने सीधी भूमिका निभायी थी।

कोविड 19 की महामारी के दौरान उक्त संस्थाओं ने नागरिकों को तत्काल राहत पहुंचाने में सीधी भूमिका निभायी। महामारी के शुरू होते ही लगाये गये राष्ट्रव्यापी बंद के दौरान भोजन, पलायन करने वाले मजदूरों के लिए परिवहन की व्यवस्था, गंभीर रूप से बीमार लोगों को स्वास्थ्य सेवाओं से जोड़ने में सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने रचनात्मक भूमिका निभायी।

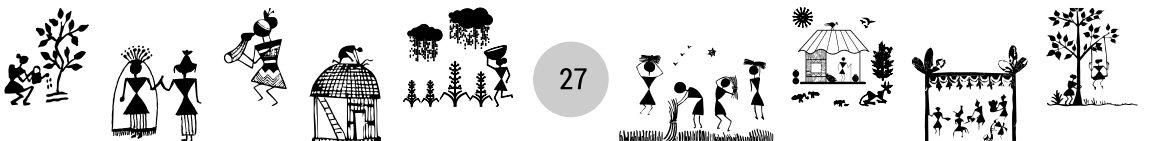
हम यह देख सकते हैं कि अब उक्त संस्थाएं केवल संघर्ष और निर्माण की भूमिका ही नहीं निभातीं, बल्कि राहत और पुनर्वास में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। इस भूमिका को इसलिए नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है क्योंकि अब समाज किसी न किसी आपदा से प्रभावित होता ही है। कभी बाढ़, कभी सूखा, चक्रवात और कभी साम्प्रदायिक टकराव। इन सभी स्थितियों में सामाजिक नागरिक संस्थाओं की भूमिका बनती ही है।

5.4 न्यायिक प्रक्रियाओं का सन्दर्भ

नयी आर्थिक नीतियों ने भारत के राजनीतिक चरित्र को भी बदल दिया। समाज की मूलभूत आवश्यकताएं दूसरे स्थान पर और निजी क्षेत्र की आकांक्षाएं नीतिगत प्राथमिकताओं में पहले क्रम पर रहती हैं। ऐसी स्थिति में 'न्यायपालिका' एक महत्वपूर्ण सहारा बनी। उक्त संस्थाओं और कार्यकर्ताओं ने संविधान द्वारा दिए गये न्याय के अधिकार के आधार पर जनहित याचिकाओं के माध्यम से समाज की मूलभूत अधिकारों के संरक्षण की पहल की।

राजस्थान में भंवरी देवी के साथ लैंगिक हिंसा और यौन शोषण हुआ था। राज्य व्यवस्था ने उन्हें न्याय नहीं दिलाया।

वर्ष 1984 में 'बंधुआ मुक्ति मोर्चा' द्वारा दायर याचिका के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय ने बाल श्रम को समाप्त करने के निर्देश दिए और तब बाल श्रम (प्रतिषेध और विनियमन) अधिनियम, 1986 बना।



वर्ष 1992 में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि लैंगिक शोषण संविधान द्वारा दिए गये, समता, जीवन जीने और स्वतंत्रता के मूलभूत अधिकार का हनन है और तब महिलाओं के साथ होने वाली लैंगिक/यौन हिंसा को रोकने के लिए व्यवस्थाएं बनीं। इस याचिका में 5 सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

वेल्लोर सिटिजन वेलफेयर फोरम की याचिका में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि टिकाऊ विकास की अवधारणा को पर्यावरण संरक्षण सम्बन्धी स्टॉकहोम घोषणा और रियो घोषणा के आलोक में देखना होगा। यह भी माना कि यह वैश्विक पारम्परिक कानूनों का हिस्सा है। अतः विकास को पारिस्थितिकी/पर्यावरण से सम्बंधित पहलुओं से जोड़ कर देखा जाना चाहिए। न्यायालय ने निर्देश दिया कि जो भी इकाई प्रदूषण फैलाती है, वह इसके लिए नियमानुसार भुगतान करेगी।

सेंटर फॉर पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन के न्यायालयीन प्रकरण में यह कहा गया कि रेडियो तरंगों के लाइसेंस (2 जी) का आवंटन मानक प्रक्रिया और मापदंडों पर नहीं हुआ है। इसके परिणामस्वरूप पूर्व में जारी किये जा चुके लाइसेंस रद्द किये गये और नये सिरे से प्रक्रिया संचालित हुई।

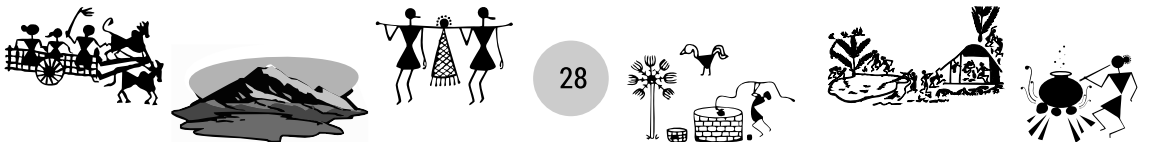
बिच्चरी गांव की तरफ से इंडियन काउंसिल फॉर एनवायरो-लीगल एक्शन ने सर्वोच्च न्यायालय को बताया कि वहां स्थापित एक कारखाने से विषैले रसायन निकलते हैं लेकिन सरकार ने नागरिकों को स्वस्थ पर्यावरण उपलब्ध करवाने के अपने दायित्व का निर्वहन करते हुए कोई कदम नहीं उठाये। इस पर न्यायालय ने सम्बंधित इकाई पर भारी जुर्माना लगाया।

पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज की याचिका पर खाद्य सुरक्षा/भोजन के अधिकार को जीवन जीने के मूलभूत अधिकार का हिस्सा माना गया।

परमानंद कटारा एक सामाजिक कार्यकर्ता हैं। उन्होंने अखबार में एक खबर पढ़ी कि एक स्कूटर चालक को तेज गति से चलती कार ने टक्कर मार दी। उस व्यक्ति को अस्पताल ले जाया गया, किन्तु वहां के चिकित्सक ने उसका इलाज करने से इनकार करते हुए उसे 20 किलोमीटर दूर दूसरे अस्पताल भेज दिया क्योंकि यह एक कानूनी मामला था। परमानंद कटारा ने अदालत में याचिका दायर की।

इसके आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने आदेश दिया कि व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा सर्वोपरि है। सरकारी अस्पताल के चिकित्सक या अन्य किसी भी चिकित्सक की यह पेशेवर जिम्मेदारी है कि वह व्यक्ति का जीवन बचाये।

इसी तरह नर्मदा बचाओ आंदोलन ने जन आंदोलन और वैधानिक प्रक्रियाओं के माध्यम से ही यह सच्चाई स्थापित की है कि बड़ी विकास परियोजनाओं में परियोजनाओं से प्रभावित लोगों और परिवारों का उचित पुनर्वास नहीं होता है।



5.5 सामाजिक नागरिक पहल और संस्थाओं की राजनीतिक भूमिका

1970 के दशक में जब संस्थाओं ने व्यवस्था में परिवर्तन के आन्दोलन को खड़ा किया था, उससे राज्य व्यवस्था और राजनीतिक दलों के सामने पहचान और विश्वसनीयता का संकट खड़ा हो गया था। तभी से सरकारों ने यह कोशिश की है कि सामाजिक नागरिक संस्थाओं को राजनीतिक पहल करने से रोका जाए। इस विचार को लागू करने के लिए यह तर्क गढ़ा गया कि जो भी सामाजिक नागरिक संस्थाएं राजनीतिक गतिविधियाँ करेंगी, उन्हें संस्था संचालन से सम्बंधित क़ानून के उल्लंघन का दोषी माना जाएगा। लेकिन कभी भी यह परिभाषित नहीं किया गया कि वास्तव में 'राजनीतिक गतिविधियों' की परिभाषा क्या है? क्या चुनाव लड़ना या लड़वाना या चुनाव में किसी राजनीतिक दल या उम्मीदवार की मदद करना ही राजनीतिक गतिविधि है या फिर आम लोगों के अधिकारों की आवाज़ उठाने के लिए प्रतिरोध करना या सत्याग्रह करना भी 'राजनीतिक गतिविधि' है? वर्तमान सन्दर्भों में तो देश की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करना या लोगों की समस्याओं के नीतिगत पहलुओं की आलोचना करना भी 'राजनीति गतिविधि' माना जाता है। अब तो प्रचलित और सत्तारूढ़ राजनैतिक विचार से असहमत होना भी भीषण अपराध है।

राजनीतिक गतिविधियों वाले पहलू ने उक्त संस्थाओं के समूह को असमंजस में डाल रखा है। यह बात तो समझ आती है कि सामाजिक नागरिक संस्थाएं चुनावी राजनीति में शामिल न हों, राजनीतिक दलों के रूप में या उनसे सम्बंधित काम न करें, लेकिन व्यवस्था में बदलाव की हर पहल को राजनैतिक गतिविधि मान लिया जाना लोकतांत्रिक नज़रिए से विसंगतिपूर्ण नीति है। यह समझना जरूरी है कि लोकतंत्र में सामाजिक-आर्थिक बदलाव और व्यवस्था में सुधार राजनीतिक प्रक्रियाओं से ही होते हैं।

5.6 क़ानून के राज की स्थापना

संस्थाएं मूलतः यह मानती हैं कि भारत के संविधान में जिन मूल्यों, मूलभूत अधिकारों और राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों का उल्लेख है, उनके मुताबिक़ भारत की राज्य व्यवस्था का निर्माण हो और समाज उन व्यवस्थाओं का पालन करे। विगत तीन दशकों में, जब से भारतीय राज्य ने जनकल्याणकारी राज्य की अपनी भूमिका को सीमित करना शुरू किया है, तबसे यह महत्वपूर्ण माना जाने लगा है कि नागरिकों और समाज के संरक्षण के लिए अब केवल राज्य की 'मंशा और भावनाओं' तक ही सीमित नहीं रहा जा सकता है। अब जरूरी है कि लोगों, समाज और पर्यावरण के लिए जरूरी विषयों पर औपचारिक रूप से क़ानून बनें। तभी सेवाओं की उपलब्धता और अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित की जा सकती है। नीतियां कोई भी हों राज्य को जवाबदेय और जनकल्याणकारी होना ही होगा।

इन संस्थाओं की पहल से ही भारत में कई महत्वपूर्ण, जनपक्षीय और बदलावकारी क़ानून बने हैं। भारत में



आम लोगों को सरकार और उससे जुड़ी हुई व्यवस्था से कभी भी कोई जानकारी लेने या प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं रहा, लेकिन सूचना के अधिकार के जन आन्दोलन (जिसका नेतृत्व मजदूर किसान शक्ति संगठन ने किया) के कारण देश में सूचना के अधिकार का क़ानून बना। बाल मजदूरी का क़ानून भी बंधुआ मुक्ति मोर्चा के संघर्ष के फलस्वरूप अस्तित्व में आया था।

आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद लोगों के सामने रोजगार का संकट पैदा होने लगा था। आर्थिक विकास की नीतियों के अंतर्गत सरकार का ध्यान आर्थिक विकास के कुछ टापुओं के निर्माण तक सीमित होने लगा और गांवों के सामने रोजगार का गहरा संकट खड़ा होने लगा। तब सामाजिक नागरिक आन्दोलन की पहल के कारण भारत में महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी क़ानून बना।

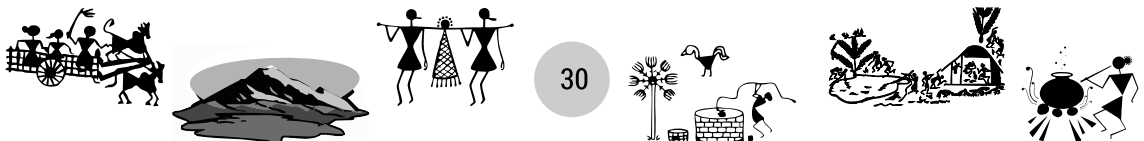
देश में एक बहुत बड़ी आबादी जनजातीय (आदिवासी) समाज की है। ये समाज प्राकृतिक संसाधनों, मुख्य रूप से जंगलों के बीच या उसके आसपास ही रहता है। लेकिन उपनिवेशकाल से पहले और फिर उपनिवेशकाल के दौरान बनी व्यवस्थाओं ने उन्हें अपने ही घर में अतिक्रमणकारी होने की पहचान दे दी थी। जंगल की जमीन और अन्य संसाधनों पर उनके अधिकार को परिभाषित करने वाला वन अधिकार क़ानून भी जीवन और गरिमा के अभियान के कारण अस्तित्व में आया।

हमारे संविधान में शिक्षा के अधिकार को राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में शामिल किया गया था। यानी नीतियां तो बनती रहीं, लेकिन सबको गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का अधिकार नहीं मिल पाया। तब सामाजिक नागरिक संस्थाओं और आन्दोलनों की पहल से ही शिक्षा के अधिकार को संविधान के मूलभूत अधिकारों में शामिल किया गया और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के अधिकार का क़ानून बना।

एक तरफ देश में आर्थिक विकास के उजले पक्ष दिखाए जा रहे थे, वहीं दूसरी तरफ, भुखमरी और कुपोषण का फैलाव भी था। इस विषय पर सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने 17 साल तक सर्वोच्च न्यायालय में न्याय की लड़ाई लड़ी। इसी के फलस्वरूप भारत में राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा क़ानून बना।

बच्चों के साथ होने वाली लैंगिक और यौन हिंसा पर कोई स्पष्ट समझ ही नहीं थी, लेकिन हिंसा और शोषण बड़े पैमाने पर विद्यमान रहा है। सामाजिक नागरिक संस्थाओं के संघर्ष के कारण ही लैंगिक अपराधों से बच्चों का संरक्षण अधिनियम बना।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 377 के तहत समलैंगिकता को अपराध माना जाता था। वर्ष 2001 में नाज फाउण्डेशन ने दिल्ली उच्च न्यायालय में धारा 377 को गैर-संवैधानिक घोषित करने की मांग की। यह धारा बताती है कि हम ट्रांसजेंडर समुदाय के प्रति असंवेदनशील हैं। वर्ष 2018 में लंबी जद्दोजहद के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने समलैंगिक संबंध को अपराध की श्रेणी से बाहर निकाल दिया।



सामाजिक नागरिक संस्थाओं के समक्ष चुनौतियां

6.1 छवि और स्वीकार्यता के प्रश्न

सामाजिक नागरिक संस्थाओं के बारे में यह धारणा स्थापित की जा रही है कि वे विकास विरोधी, धर्म विरोधी, शहरीकरण विरोधी और सरकार विरोधी होती हैं। उनका उद्देश्य अस्थिरता लाना होता है। लेकिन तथ्य कुछ और ही कहते हैं। तथ्य ये हैं कि मानव अधिकारों के संरक्षण, शिक्षा के अधिकार, जलवायु परिवर्तन, वन अधिकार, सूचना के अधिकार, स्वास्थ्य, पोषण और खाद्य सुरक्षा के अधिकार, विस्थापन के दर्द को नीति और न्याय के पटल पर लाने का काम वास्तव में सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने ही किया है।

एक कथानक यह भी बनाया गया है कि उक्त संस्थाओं की प्रशासन व्यवस्था कमजोर और अपारदर्शी होती है। जबकि वास्तव में इन संस्थाओं पर 15 क़ानून प्रत्यक्ष रूप से लागू होते हैं और इन्हें सरकार द्वारा विशेष रूचि लेकर लागू करवाया भी जाता है।

यह कहा जाने लगा है कि अब संस्थाएं समाज से कटी हुई हैं। कॉर्पोरेट संस्कृति से संचालित होती हैं। इनमें कहीं शीर्ष पर निर्णय लिए जाते हैं और समुदाय पर लागू किये जाते हैं। यह उतना ही सच है, जितना की हमारी राज्य व्यवस्था की कार्यशैली का भी शीर्ष से संचालित होने का सच है।

उक्त संस्थाओं को विवश किया गया है कि वे अपने तात्कालिक लक्ष्यों और कार्यक्रम की उपलब्धियों पर ध्यान केन्द्रित करें। अब तो भारत की सरकार और जांच एजेंसियां भी यही जानना चाहती हैं कि संस्थाओं ने कितने बच्चों को स्कूल बैग बांटे, कितने स्वास्थ्य शिविर लगाये, कितने वृद्धों को आश्रय दिया? केवल चैरिटी के काम की अनुमति है, समालोचना और विचार की अनुमति नहीं है; जबकि मूलतः उनका लक्ष्य तो समाज में समानता, न्याय और बंधुता के मूल्यों को स्थापित करना होता है। हर स्तर पर ख़ास तरह की व्यवस्थाएं बना कर संस्थाओं को अपने दीर्घकालिक लक्ष्य से विचलित किया गया है। इन संस्थाओं का स्वभाव होता है कि वे किसी भी विषय को व्यापक नज़रिए के साथ देखें-समझें, समाज की समस्याओं को एक दूसरे के साथ जोड़कर अपने कार्यक्रम संचालित करें। ऐसा नहीं माना गया कि संस्थाओं को एक ही विषय पर काम करना चाहिये और बाकी विषय छोड़ देने चाहिये। अब कथानक बदल दिया गया है। किसी भी संस्था से यह अपेक्षा



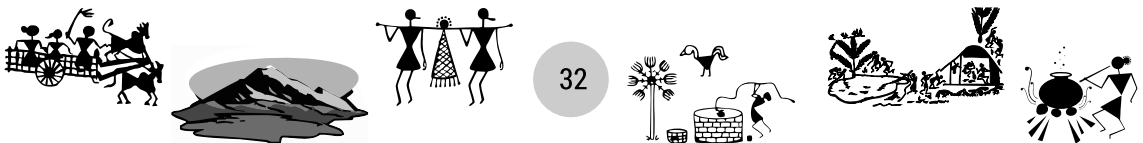
की जाती है कि वह किसी भी एक विषय की विशेषज्ञ बन जाए और अन्य विषयों में दखल न दे या पहल न करे। ऐसी सोच से सामाजिक नागरिक संस्थाओं का वैचारिक आधार कमजोर हुआ है और वे अपनी भूमिका को निभाने में कमजोर साबित होने लगी हैं।

अब उक्त संस्थाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे तमाम आधुनिक जटिल तकनीकों को अपनाएं। उन पर दबाव है कि वे जटिल अध्ययन भी करें, जटिल प्रशिक्षण भी करें, उनकी सारी प्रस्तुति अंग्रेजी भाषा में हो। उन्हें लगातार नवाचार करते रहना चाहिए ताकि उनकी स्वीकार्यता बनी रहे। छोटी-मझोली-क्षेत्रीय सामाजिक नागरिक संस्थाओं से बहुत अधिक तकनीकी कौशल के साथ काम करने की अपेक्षा की जाने लगी है। जबकि दूसरी तरफ भारत में सामाजिक नागरिक संस्थाओं को (खासकर उन्हें जो छोटे और मझोले आकार की हैं और अंचलों में स्थानीय भाषा में सबसे वंचित समूहों के साथ सामाजिक-आर्थिक बदलाव लाने का प्रयास कर रही हैं), अपनी क्षमताएं विकसित करने और अपेक्षाओं के अनुसार व्यवस्थाएं बनाने में कोई मदद नहीं की जाती है। परिणाम यह कि सकारात्मक नजरिए से समाज में काम करने वाली संस्थाएं 'व्यवस्थागत अपेक्षाओं' के चलते नकारात्मक छवि की शिकार हो जाती हैं।

6.2 सामाजिक नागरिक संस्थाओं में लैंगिक समानता

यह एक उल्लेखनीय पहलू है कि उक्त संस्थाएं समाज में समानता लाने के उद्देश्य से ही अस्तित्व में आती हैं। सामाजिक-आर्थिक असमानता और विकास की चुनौतियों पर संस्थाओं ने ठोस अध्ययन और पहल की हैं; लेकिन इसके दूसरी तरफ यह पक्ष भी उभर कर आता है कि इन संस्थाओं के भीतर ही लैंगिक समानता के मानक पूरी तरह से नहीं अपनाए गए हैं। यूं तो कोई बहुत व्यापक अध्ययन नहीं हुए हैं, लेकिन जो थोड़े बहुत अध्ययन हुए हैं, उनमें से से एक हेनरिच बोल स्टीफटुंग इंडिया-जेंडर एट वर्क का अध्ययन 'भारत में गैर-लाभकारी क्षेत्र में लैंगिक समानता' है। चूंकि उक्त संस्थाएं 'सकारात्मक मूल्यों' को ही अपनी भूमिका का आधार बनाती हैं और मानव अधिकारों, खुशहाली, भेदभाव और गैर-बराबरी की समाप्ति के उद्देश्य से काम करती हैं, इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि वे अपने ही ताने-बाने में यानी संस्थाओं के भीतर भी इन मूल्यों और मानकों को लागू करें।

उक्त संस्थाओं के संचालन में उनकी कार्यकारिणी परिषद् (बोर्ड) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसी परिषद् में संस्था के लक्ष्य, कार्यक्रमों, नियुक्तियों, भूमिकाओं और मानदेय से सम्बंधित निर्णय होते हैं। लेकिन संस्थाओं के कार्यकारिणी में महिलाओं का प्रतिनिधित्व बहुत कम होता है। इसका स्वाभाविक असर संस्थाओं के चरित्र और कार्यशैली पर दिखाई देता है। वास्तव में जिस तरह से निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र में लैंगिक समानता की प्रतिबद्धता के साथ जवाबदेहिता का जुड़ाव नहीं है, वैसे ही उक्त संस्थाओं की भी स्थिति



है। विवाह, गर्भावस्था, बच्चों की देखरेख के काम के लिए महिलाओं को संस्थाओं में भी अपना काम छोड़ देना पड़ता है।

यह एक जाना हुआ सच है कि महिलायें परिवार-समाज में महत्वपूर्ण भूमिकाएं (देखरेख, व्यवस्था, सामाजिक जिम्मेदारियों का निर्वहन आदि) निभाती हैं। उन्हें दफ्तर में काम करते हुए भी ये भूमिकाएं निभाना होती हैं। इस मायने में वे दोहरे श्रम भूमिका में होती हैं। लेकिन संस्थाओं का प्रबंधन इसका आंकलन दूसरी तरह से करता है। वह मानता है कि चूंकि महिलाओं को घर-परिवार की जिम्मेदारी संभालना होती है, इसलिए वे संस्था में बड़ी, गंभीर और नेतृत्वप्रधान भूमिका नहीं निभा सकती हैं।

मोयना मनकू के द मिंट में प्रकाशित लेख (18 मार्च 2016) के मुताबिक सामाजिक नागरिक संस्थाएं महिलाओं के नज़रिए से काम का आसान क्षेत्र मानी जाती हैं क्योंकि भारत के अरबपति-खरबपति उद्यमी परिवारों की महिलाएं या उनकी पत्नियाँ सामाजिक नागरिक संस्था की नेतृत्व संभालती हैं। जिन संस्थाओं का नेतृत्व महिलाओं के हाथ में है, वहां महिलाओं की संख्या ज्यादा है, जहाँ पुरुष नेतृत्व में हैं, उन संस्थाओं में महिलायें कम हैं।

चुनौतियां - हेनरिच बोल स्विफ्टिंग इंडिया-जेंडर एट वर्क के अध्ययन से पता चला कि 71 प्रतिशत महिलायें मानती हैं कि घर-परिवार और संस्था की दोहरी भूमिका उनके सामने मुख्य चुनौती होती है। 36 प्रतिशत महिलायें लैंगिक शोषण को बड़ी चुनौती मानती हैं। 36 प्रतिशत महिलायें मानती हैं कि उन्हें संस्था में प्रोन्नति या महत्वपूर्ण दायित्व नहीं दिए जाते हैं। इतनी ही महिलायें मानती हैं कि काम का स्थान (सामाजिक नागरिक संस्थाओं के कार्यक्षेत्र एक जगह पर केन्द्रित न होकर अलग अलग क्षेत्रों में होते हैं) भी एक बड़ी चुनौती होता है।

क्या छूटा हुआ है? - लगभग 100 प्रतिशत सामाजिक नागरिक संस्था प्रतिनिधि मानते हैं कि अगर काम-परिवार के बीच संतुलन लाने की सचेत पहल हो तो महिलाओं और पुरुषों, दोनों के जीवन में बड़ा बदलाव आ सकता है। लगभग 92 प्रतिशत प्रतिनिधि कार्यस्थल पर लैंगिक शोषण और भेदभाव को ख़तम करने के लिए आंतरिक शिकायत समिति और उसकी प्रभावी भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं। इतने ही प्रतिनिधि मातृत्व अवकाश के साथ साथ पितृत्व अवकाश को भी जरूरी मानते हैं। 61 प्रतिशत प्रतिनिधि लैंगिक समानता पर उन्मुखीकरण और संवेदीकरण को जरूरी मानते हैं। कई बार लैंगिक समानता की नीतियां तो बनाई जाती हैं, लेकिन उनका पालन नहीं किया जाता है। अतः संस्था की नीतियों का लैंगिक समानता और सामाजिक विविधता के नज़रिए से अंकेक्षण होना चाहिए। यह एक जरूरी पहल है कि संस्था में महिलाओं को अपना काम बेहतर करने के लिए रचनात्मक परामर्श देने की व्यवस्था होना चाहिए। महिलायें अपना काम बिना तनाव से कर सकें, इसके लिए संस्था में बच्चों के देखरेख (झूलाघर) की व्यवस्था होना जरूरी होता है। महत्वपूर्ण



बात यह है कि झूलाघर या बच्चों की देखरेख का केंद्र पुरुष कर्मचारियों के लिए भी होना चाहिए ताकि पुरुष सदस्य भी बच्चों को अपने साथ ला सकें।

सबसे महत्वपूर्ण पहलू तो यही है कि उक्त संस्थाओं में व्यापक मानव संसाधन नीति बने, जिसमें लैंगिक समानता और सामाजिक विविधता को केंद्र में रखा जाए। इन्हें संस्थागत मूल्य माना जाना चाहिए।

उक्त संस्थाओं में यह समझ विकसित होना चाहिए कि संस्था में महिलाओं को नेतृत्व की भूमिकाएं प्रदान करने से संस्था की कार्य संस्कृति, काम की योजना बनाने के तरीके, समीक्षाएं और व्यक्तिगत व्यवहार में बदलाव आता है।

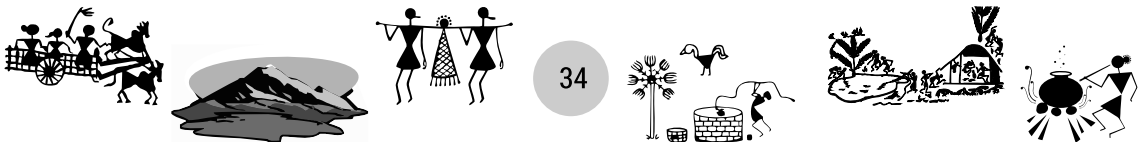
6.3 सामाजिक नागरिक संस्थाएं और विविधता

यहाँ वस्तुतः हम विविधता का सन्दर्भ संस्था के बोर्ड और वहां काम करने वाले लोगों के समूह में सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक-लैंगिक विविधता से ले रहे हैं। चूंकि ये संस्थाएं समतामूलक समाज के निर्माण के सपने को शिरोधार्य करती हैं, इसलिए यह जांचना बहुत जरूरी हो जाता है कि इन संस्थाओं में सबसे पहले विविधता का समावेश हो। मौजूद अनुभव यह बताते हैं कि यह कतई आवश्यक नहीं है कि समाज का जो समुदाय वंचितपन से त्रस्त है, वही अपना संघर्ष खड़ा करे या संस्थागत पहल करे। वहीं दूसरी तरफ, ऐसे संस्थागत और आन्दोलनों के प्रमाण भी सामने हैं, जहाँ आदिवासी-दलित और लैंगिक असमानता के विषयों पर उन्हीं समुदायों ने पहल की, जो असमानता का दंश भुगत रहे हैं।

इन संस्थाओं में विविधता से जुड़े पहलू को हम पांच बिन्दुओं के साथ बेहतर ढंग से समझ सकते हैं।

1. **भूमिकाओं के स्तर** - भारत में संस्थाओं का एक वृहद् समुदाय है और इस समुदाय में शामिल संस्थाएं अलग-अलग रणनीतियों और सोच के साथ सामाजिक-आर्थिक बदलाव की पहल करती हैं। संस्थाओं के एक बड़े तबके में यह नज़र आता है कि वहां नेतृत्व और निर्णायक भूमिकाओं में वंचित और उपेक्षित तबकों से जुड़े व्यक्तियों को महत्वपूर्ण भूमिकाएं नहीं दी जाती हैं। वहां माना जाता है कि इस तरह की भूमिकाएं निभाने के लिए विशेष किस्म के भाषाई और तकनीकी कौशल की आवश्यकता होती है, जो आदिवासी, दलित या महिला कार्यकर्ताओं में सहजता से उपलब्ध नहीं होते हैं। इस तरह की धारणा वास्तव में आदिवासी-दलित-महिलाओं में वह भूमिकाएं लेने का अनुभव और क्षमताएं ही विकसित नहीं होने देती है। विश्वास की कमी अवसर की कमी बन जाती है और अवसर की कमी नेतृत्व को पनपने नहीं देती है।

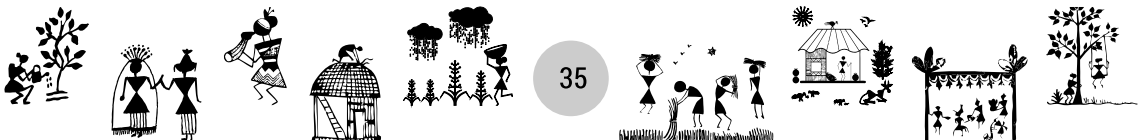
ऐसी स्थिति में हम यह पाते हैं कि आदिवासी-दलित-महिलाओं को नेतृत्व के स्तर पर अवसर नहीं



मिलते, लेकिन उन्हें माध्यम या समुदाय के स्तर पर काम करने के लिए जरूर शामिल किया जाता है। वहां यह मान्यता काम करती है कि कार्यक्रम को समुदाय या मैदानी स्तर पर सफल बनाने के लिए यह जरूरी होता है कि उन्हीं समुदायों के व्यक्तियों को सामुदायिक कार्यकर्ता या सामुदायिक समन्वयक के रूप में नियुक्त किया जाए। संस्थाओं के स्तर पर यह वास्तव में एक सुरक्षित रणनीतिक पहल होती है।

इन संस्थाओं में नियुक्ति का मुख्य आधार तो कौशल, अनुभव, विशेषज्ञता और तकनीकी समझ ही होता है। अगर किसी आदिवासी, दलित, महिला या अल्पसंख्यक में ये गुण मिल जाते हैं, तो उसे नियुक्त कर लिया जाता है। ऐसा कम ही होता है कि व्यक्ति में ये गुण भले ही कुछ कमतर हों और उसमें इन गुणों के विकास की पूरी संभानाएं हों, तो उसे विविधता के नज़रिए से संस्था में शामिल कर लिया जाए।

2. **विशेषज्ञ सामाजिक नागरिक संस्थाओं में नगण्यता** - संस्थाओं में कई संस्थाएं शोध और प्रशिक्षण का काम करती हैं। इन कामों के बारे में यह माना जाता है कि इनके लिए विशेष किस्म की दक्षता, कौशल और व्यक्तित्व की जरूरत होती है। अगर शोध और अध्ययन का तकनीकी कौशल नहीं होगा, तो व्यक्ति को अवसर नहीं मिलते हैं। ऐसी स्थिति में आदिवासी-दलित-महिलायें-अल्पसंख्यक समुदायों के व्यक्तियों को अहम् भूमिकाएं प्रदान नहीं की जाती हैं।
3. **वित्तीय संसाधनों के सन्दर्भ में दुविधा और दोहरा चरित्र** - संस्थाएं जिन वित्तीय संसाधनों पर निर्भर करती हैं, वहां उन्हें समाज के वंचित समूहों के व्यक्तियों को अपने काम से जोड़ने के लिए माकूल सहयोग और समर्थन नहीं मिलता है। एक तरफ तो वित्तीय संसाधन प्रदान करने वाली संस्थाएं यह कहती हैं कि उनकी साझेदार संस्थाएं वंचित समुदायों के व्यक्तियों को अहम् भूमिकाएं प्रदान करें, लेकिन दूसरी तरफ वे अपने काम की गति, गुणवत्ता और प्रभाव से सम्बंधित अपेक्षाओं को कम नहीं करती हैं। वे यह मानने को तैयार नहीं होती हैं कि अगर हम संस्थाओं में विविधता लाने के लिए निवेश करेंगे, तो इससे अपने आप में बदलाव का एक बड़ा आधार तैयार हो जाएगा।
4. **प्रक्रिया का अभाव** - संस्थाएं एक समुदाय के बीच में लम्बे अरसे तक काम करती हैं। अगर उनके पास एक प्रतिबद्ध योजना रहे तो वे अपने कार्यक्षेत्र से ही ऐसे व्यक्तियों को तैयार कर सकती हैं, जो संस्था में महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाने के लिए सक्षम हों। समुदाय में ही काम करते हुए, वहां के युवाओं को, महिलाओं को प्रशिक्षण कार्यक्रमों में स्रोत व्यक्ति के रूप में शामिल किया जा सकता है। उन्हें स्थानीय स्तर पर शोध के लिए भी तैयार किया जा सकता है। लेकिन साथ ही यह भी जरूरी हो जाता है कि उनकी शिक्षा और तकनीकी कौशल को मजबूत करने के लिए संस्थागत निवेश किया जा सके। वास्तव में सामाजिक नागरिक संस्थाओं में सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता लाने की कोई जवाबदेय नीति नहीं होती है, यह एक वैकल्पिक शर्त होती है।

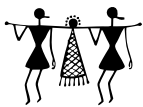


5. **भीतरी ताना बाना** – संस्थाओं की स्थापना और उनके स्वरूप का निर्धारण जिनके द्वारा किया जाता है, उनके अपने स्वभाव और सोच का विविधता से गहरा जुड़ाव होता है। अगर संस्था का गठन महिला, आदिवासी, दलित या अल्पसंख्यक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है, तो वहां विविधता का रूप दूसरा हो जाता है। अगर तार्किक ढंग से सोचा जाए, तो दोनों ही अतिरेक की स्थितियां स्थाई बदलाव नहीं लायेंगी। वास्तव में उक्त संस्थाओं को यह सुनिश्चित करना होगा कि वे समाज में किस तरह की विविधता की वकालत करते हैं, उसी तरह की विविधता संस्थाओं के भीतर स्थापित हो।

6.4 विदेशी अनुदान का अनछूआ पक्ष

सामाजिक नागरिक संस्थाओं को विदेशी अंशदान विनियमन अधिनियम के तहत विदेशों से मिलने वाली आर्थिक सहायता पर बहुत बहस होती रही है। संस्थाओं की पहचान, उनकी मंशा और चरित्र पर सवाल खड़े करने के लिए इसका ज्यादा उपयोग हुआ है। बीच बहस बस इतना सवाल पूछते रहना होगा कि आखिर कारण क्या हैं? भारत में कुल 50111 संस्थाओं को इस अधिनियम के तहत पंजीकृत किया गया है। इस अधिनियम के दो प्रावधानों का सन्दर्भ लेना बहुत जरूरी है। एक प्रावधान यह कहता है कि जो संस्थाएं नियमित रूप से वार्षिक विवरणी (रिटर्न) जमा नहीं करेंगी, उनका पंजीयन रद्द किया जा सकता है। जिन 20679 संस्थाओं का पंजीयन रद्द किया गया है, उनमें से 95 प्रतिशत से ज्यादा का पंजीयन वार्षिक विवरणी जमा नहीं करने के कारण ही रद्द हुआ है। वास्तविकता यह है कि हजारों संस्थाओं ने विदेशी अंशदान अधिनियम में पंजीयन तो करवा लिया, लेकिन उनमें इतनी क्षमताएं और कौशल नहीं था कि वे अंशदान प्राप्त कर पातीं। जब कोई अनुदान या अंशदान मिला ही नहीं, तो उन्होंने वार्षिक विवरणी जमा नहीं की। यह क़ानून के प्रावधान का उल्लंघन हो सकता है, किन्तु राष्ट्रद्रोह या व्यवस्था के खिलाफ कोई षड्यंत्र तो नहीं ही माना जा सकता है।

अधिनियम का दूसरा प्रावधान यह है कि हर 5 वर्ष में विदेशी अंशदान विनियमन अधिनियम में दर्ज संस्थाओं को पंजीयन का नवीनीकरण करवाना होगा। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। हजारों संस्थाओं को न तो कोई अनुदान मिला, न ही किसी ने उनकी सहायता की कि वे अपने आप को सक्षम बना पातीं। इसके बाद उन्होंने यह पाया कि इस इस क़ानून का अनुपालन बहुत जटिल और चुनौतीपूर्ण काम है। छोटी-मझौली संस्थाएं इतना दबाव झेल पाने की स्थिति में नहीं रहीं, और उन्होंने निश्चित समयावधि गुज़र जाने के बाद पंजीयन के नवीनीकरण के लिए आवेदन ही नहीं किया। इसके कारण से 12543 संस्थाओं का पंजीयन रद्द हो गया। ऐसा होना भी किसी षड्यंत्र या अपराध की श्रेणी में नहीं आता है। इन दो कारणों से रद्द होने वाले पंजीयन और वास्तव में भ्रष्टाचार या आपराधिक गतिविधियों में लिप्त होने के कारण रद्द किये गए पंजीयनों की जानकारी को स्पष्ट नहीं किया गया और सार्वजनिक पटल से लेकर संसद और सर्वोच्च न्यायालय के पटल पर यही कहा गया कि क़ानून के उल्लंघन के कारण 33222 यानी 66 प्रतिशत संस्थाओं के पंजीयन रद्द किये गए। यह नहीं बताया कि ये



उल्लंघन किस किस तरह के प्रावधानों के अन्तर्गत थे ?

सामाजिक नागरिक संस्थाओं की यही सबसे बड़ी कमजोरी और अकर्मण्यता है कि वे अपने क्षेत्र, समाज और उससे सम्बंधित नीतिगत-राजनैतिक स्थितियों का विश्लेषण नहीं करते हैं और अपना पक्ष रख पाने में कमजोर हैं। उक्त संस्थाएं यह तर्क रखने में नाकाम रहीं कि किसी भी आचरण के लिए सामाजिक नागरिक संस्थाओं को भी उतना ही दोषी माना जा सकता है, जितना की कानून परिभाषित करता है। संस्थाओं के वजूद को खतम कर देने की मंशा न तो नैतिक है और न ही संवैधानिक।

6.5 व्यापक आर्थिक-राजनीतिक नज़रिए से बढ़ती दूरी

नये सन्दर्भों में एक तरफ तो स्वतंत्र आर्थिक संसाधन सीमित हुए हैं, लेकिन दूसरी तरफ कॉरपोरेट नियंत्रित संसाधनों का दायरा और फैलाव बहुत बढ़ा है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि संस्थाओं से 'व्यवस्थागत अपेक्षाएं और तात्कालिक उपलब्धियों' को केंद्र में रखने का दबाव बढ़ता गया है। अब तो सामाजिक क्षेत्र में 'लाभकारी संस्थाएं' भी सक्रिय भूमिका में आ रही हैं। यह नया पारिस्थितिकी तंत्र है।

किसी भी सामाजिक-आर्थिक बदलाव का लक्ष्य राजनैतिक नज़रिया और रणनीतियां अपनाए बिना हासिल नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि सामाजिक नागरिक संस्थाएं दलीय राजनीति का हिस्सा बने बगैर जनतांत्रिक माध्यमों का इस्तेमाल करके वंचित तबकों की आवाज़ को बुलंद करती रही हैं। लेकिन नया कानूनी तंत्र सामाजिक नागरिक संस्थाओं की इस रणनीति को 'आपराधिक' करार देता है। नया राज्य तंत्र यह चाहता है कि सामाजिक नागरिक संस्थाएं राज्य व्यवस्था/सरकार की एक अतिरिक्त भुजा बन कर काम करें। इन संस्थाओं को केवल 'सेवा और करुणा' से सम्बंधित काम करना चाहिए। संस्थाओं को कभी भी एक तबके की आवाज़ को समाज की आवाज़ बनाने की कोशिश नहीं करना चाहिए।

कुल मिलाकर सामाजिक नागरिक संस्थाओं को समाज की समस्याओं के मूल कारणों पर बहस और पहल नहीं करना चाहिए। उनसे केवल इतनी ही अपेक्षा है कि वे (संस्थाएं) घावों की मरहम पट्टी करती रहें, लेकिन घाव क्यों हुआ, उस घटना और परिस्थिति को सतह पर न लायें।

वर्तमान स्थिति के आंकलन से पता चलता है कि अब छोटी-मझौली और आंचलिक संस्थाओं के सामने अपने अस्तित्व को बचाने चुनौती है क्योंकि जिस तरह की कानूनी व्यवस्थाएं बनायी जा रही हैं और तकनीकी कौशल की अपेक्षा की जा रही है, उन्हें देखते हुए यह तय है कि अब आर्थिक संसाधनों और साझेदारी के लिए बड़े आकार की संगठित और प्रबंधन में सक्षम संस्थाओं को ज्यादा तवज्जो दी जाने लगी है। इसके कारण छोटी और मझौली संस्थाओं का काम करना बहुत कठिन होता जाएगा।



6.6 आत्म-विश्लेषण से संकोच

इसमें दो राय नहीं कि भारत में संस्थाओं को अब अपने संगठन, अपनी व्यवस्था और अपनी आवाज को मजबूत करने की जरूरत है। जब तक संस्थाओं का समुदाय अपने लिए नैतिक व्यवस्थागत मानक तैयार नहीं करेगा, तब तक राज्य व्यवस्था का दबाव बढ़ना स्वाभाविक ही है। वास्तव में अब प्रबंधन की व्यवस्थाओं को ढांचागत रूप देने, संस्थाओं की टीमों की क्षमता वृद्धि करने और समाज से ज्यादा से ज्यादा जुड़ाव बनाने की पहल करने जरूरत है।

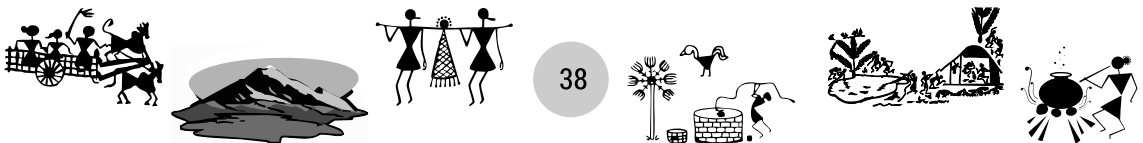
इन संस्थाओं को अपने काम के नज़रिए को विस्तार देने, अपने विषय और उसके आयामों को गहराई से समझने के लिए व्यवस्थित पहल करने और उस बदलाव के बारे में खुलकर बात करने की जरूरत है, जो वे लाना चाहते हैं। बदलाव ऐसा होना चाहिए, जिसे मापा भी जा सके और महसूस भी किया जा सके। इस सन्दर्भ में सामाजिक नागरिक संस्थाओं को अपने दावों की समीक्षा के लिए भी तैयार रहना होगा।

उक्त संस्थाओं की स्वीकार्यता तभी स्थापित होगी, जब संस्था के हर सदस्य की समझ विकसित होगी। हमें यह तो मानना ही होगा कि अभी संस्था की पहचान और वजूद एक-दो व्यक्तियों की समझ और प्रस्तुति पर टिके होते हैं।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि अब तथ्यों, आंकड़ों और प्रमाणों को बहुत जरूरी माना जाने लगा है। उक्त संस्थाओं को अब अपने विषय, अपने कार्यक्रम और अपने विचार से सम्बंधित जानकारीयों, नीतियों के विश्लेषण और आंकड़ों के रखरखाव और मानक वित्तीय प्रबंधन की व्यवस्था अनिवार्य रूप से बना लेनी चाहिए।

समुदाय और समाज का मतलब क्या है; यह भी खंगाला जाना चाहिए। जब यह कहा जाता है कि सामाजिक नागरिक संस्थाएं 'समुदाय' में या समुदाय के साथ काम करती हैं, तब वास्तव में वहां व्यापक समुदाय की बात नहीं होती, बल्कि समुदाय के कुछ खास वर्गों और परिवारों की बात होती है। अगर संस्थाएं 50-100 गांवों में या 10-15 बस्तियों में काम करती हैं, तब वास्तव में उनके कार्यक्रम का दायरा उन गांवों या बस्तियों का एक खास समूह या कुछ तयशुदा परिवार होते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उन पर 'तुरत-फुरत' बदलाव लाने का दबाव होता है। उन्हें बदलाव के आंकड़े देने होते हैं, बदलाव की कहानियां सुनानी होती हैं।

सामाजिक संस्थाएं विभिन्न क्षेत्रों में रचनात्मक भूमिकाएं निभा रही हैं। लेकिन इसके बाद भी समाज और व्यवस्था में उनके बारे में बना हुआ कथानक नकारात्मक ही है। इसके पीछे का कारण है, उनके द्वारा समाज और व्यवस्था के विभिन्न समूहों से निरंतर संवाद नहीं किया जाना। जब संवाद नहीं होता है तो परिचय नहीं हो पाता है। और जब परिचय नहीं हो पाता है तो रिश्ते नहीं बन पाते हैं। ऐसे में सामाजिक संस्थाओं और



सामाजिक कार्यकर्ताओं के बारे में निराधार नकारात्मक धारणाएं बनने लगती हैं।

सामाजिक संस्थाओं को यह समझना होगा कि समाज में छवि का निर्माण कैसे होता है? संस्थाओं या कार्यकर्ताओं के बारे में सामान्य समझ या धारणाएं कैसे बनती हैं? यह समझना भी जरूरी है कि सामाजिक संस्थाएं अपनी छवि का निर्माण खुद कैसे कर सकती हैं? और इस पहल में संचार-संवाद की बेहद अहम भूमिका है।

आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों ने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक चरित्र को गहरे तक प्रभावित किया है। ये महज नीतियां नहीं हैं, स्वभाव, चरित्र और तौर तरीकों बदलने की प्रक्रिया हैं। भारत और दुनिया में जिस तरह की आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को गढ़ा गया है, उसने उक्त संस्थाओं के चरित्र और तौर-तरीकों को भी बदला है। इनमें एक बदलाव आया है वर्गभेद का। सामाजिक नागरिक संस्थाओं में भी बड़ी और छोटी संस्थाओं, क्रियान्वयन/सामुदायिक कार्यक्रम संचालित करने वाली और शोध-अध्ययन करने वाली संस्थाओं, दिल्ली, मुंबई, बंगलुरु से संचालित होने वाले संस्थाएं और झाबुआ, जहानाबाद, मंडला सरीखे जिलों से संचालित होने वाली संस्थाएं, राष्ट्रीय नेटवर्क संचालित करने वाली संस्थाएं और नेटवर्क से बाहर की संस्थाएं, अंग्रेजी में दस्तावेजीकरण करने वाली संस्थाएं और अंग्रेजी में दस्तावेजीकरण न कर पाने वाली संस्थाएं, अपने काम का प्रसार-प्रचार कर पाने वाली संस्थाएं और वे संस्थाएं, जो प्रसार-प्रचार कर पाने में सक्षम नहीं हो पायीं, सरकार के साथ जुड़कर काम करने वाली संस्थाएं और सरकार के साथ जुड़कर काम न करने वाली संस्थाएं; इस तरह के कई व्यावहारिक वर्गीकरण अब स्थापित हो गए हैं।

जो संस्थाएं अंग्रेजी में जटिल प्रारूपों में दस्तावेजीकरण कर सकती हैं, जो प्रस्तुति की कला में माहिर हैं, जो सरकार और आर्थिक सहायता प्रदान करने वाली संस्थाओं (फंडिंग संस्थाओं) की अपेक्षाओं के मुताबिक चल

सकती हैं, उन्हें अब प्राथमिकता मिलती है। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि अब उक्त संस्थाओं को दी जाने वाली आर्थिक सहायता (फंडिंग) को समाज निर्माण में 'योगदान' (कांट्रीब्यूशन) के रूप में नहीं बल्कि 'निवेश' (इन्वेस्टमेंट) के रूप में देखा जाता है। अब रणनीतियां जमीनी अनुभव के आधार पर नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक विकास के प्रबंधन में माहिर 'सलाहकारों' (एक्सपर्ट एडवाइजर्स) के द्वारा बनाई जाती हैं और क्रियान्वयन करने वाली मैदानी संस्थाओं (इम्प्लीमेंटेशन ऑर्गनाइजेशन) को सौंप दी जाती हैं।

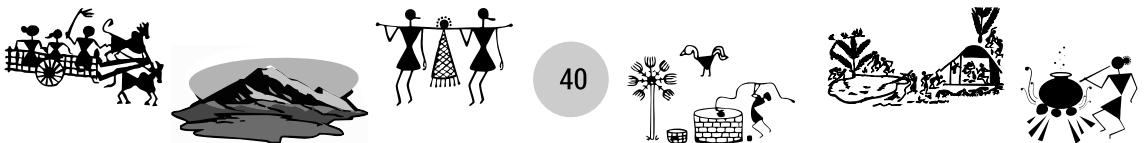
सरकार द्वारा बनाए जा रहे कानूनों की जटिलता के कारण भी समाज के बीच रहने वाली संस्थाएं कमजोर होती गई हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि सामाजिक नागरिक संस्थाओं के लिए बनाई जा रही 'कानूनी व्यवस्थाओं' का प्राथमिक मकसद उनकी गहराई, फैलाव और प्रभाव को सीमित करना है। 'राज्य व्यवस्था' को यह कतई गवारा नहीं है कि कोई उसकी नीतियों और कार्यशैली पर सवाल खड़े करे और सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के मूल राजनीतिक-आर्थिक कारणों को उजागर करे। ऐसी स्थिति में 'राष्ट्रीय स्तर' पर मौजूद प्रबंधन के काम में कुशल संस्थाओं ने ग्रामीण-आदिवासी और विकास से वंचित रहे भू-सामाजिक क्षेत्रों में अपने दफ्तर स्थापित करके 'सामाजिक बदलाव' का काम करना शुरू कर दिया। इससे उन भू-सामाजिक क्षेत्रों में मौजूद संस्थाओं का स्वतंत्र वजूद ही लगभग समाप्ति पर आ गया है।

नई व्यवस्था यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावशाली नौकरशाहों, विशेषज्ञों और प्रबंधन कौशल में निपुण लोगों के समूह ने जिलों की सामुदायिक संस्थाओं को अपना 'सेवा प्रदाता' और उन संस्थाओं के संचालकों को अपना 'कर्मचारी' बना लिया। अब यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि देश के सबसे वंचित जिलों में सामाजिक-आर्थिक बदलाव के लिए ऐसी संस्थाओं की ज्यादा सक्रियता है, जिनकी जड़ें 'स्थानीय' न होकर 'राष्ट्रीय-महानगरीय' हैं।

हो सकता है कि बड़ी और पेशेवर संस्थाएं दस्तावेजीकरण, प्रस्तुति, संस्थागत व्यवस्थाएं बनाने में ज्यादा कुशल और सक्षम हों लेकिन वे 'समाज और समाज के चरित्र' को 'महसूस' करने वाली संस्थाएं नहीं हैं, जबकि इसी तत्व को समुदाय और उसके स्वरूप को, जरूरतों को, चुनौतियों को महसूस कर पाना 'सामाजिक नागरिक संस्थाओं' की भूमिका का आधारभूत तत्व माना जाता है।

उक्त संस्थाओं के समुदाय में ऐसा वर्ग चरित्र अपने आप पैदा नहीं हुआ है। इसे पैदा किया गया है। इसके पीछे का मकसद है उक्त संस्थाओं को 'समुदाय' से काट कर अलग कर देना। ताकि उनका प्रभाव ख़तम हो जाए। जब संस्थाएं अपने नज़रिए से समाज की जरूरतों और विकास की परिभाषा का निर्धारण करके परियोजनाएं संचालित करेंगी, तो समुदाय स्वाभाविक रूप से इनसे अपना जुड़ाव ख़तम कर देगा।

नए सन्दर्भों में हर काम को 'प्रत्यक्ष और तात्कालिक परिणामों' ने नज़रिए से मापा जा रहा है। सामाजिक



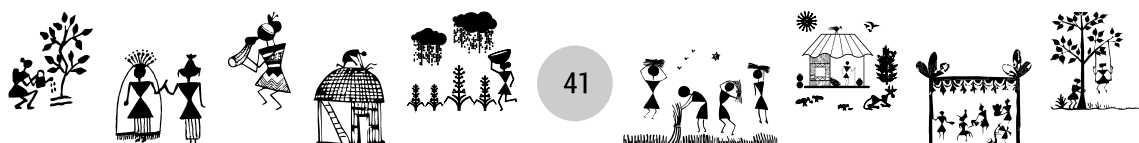
नागरिक संस्थाओं को आखिर में इतना ही साबित करना होता है कि उन्होंने कितनी जल संरचनाएं बनायीं, कितने कुपोषित बच्चों को पोषण आहार और भोजन प्रदान किया, कितने परिवारों को बकरी और मुर्गीपालन में मदद की, कितने स्वास्थ्य शिविर लगाए आदि। इस काम में सामाजिक विसंगतियों को दूर करने के लिए पहलुओं को गैर-जरूरी मान लिया गया है। संसाधनों पर समाज के अधिकार को सीमित न किया जाये, इस पक्ष पर काम करने वाली संस्था को 'व्यवस्था विरोधी' मान लिया जाता है। इन संस्थाओं से अपेक्षा की जाती है कि वे केवल वृक्षारोपण करवाएं, लेकिन ठेकेदारों, निजी कंपनियों और सरकार द्वारा की जा रही वृक्षों की कटाई को न रोकें। ऐसी परियोजनाओं, जिनके कारण परिस्थितिकी तंत्र और व्यवस्था बिगड़ रही हो, उन्हें रोकने की पहल विकास विरोधी करार दी जाती है। वास्तव में अब उक्त संस्थाओं से यह ताकीद की जाती है, कि वे सरकार के कामों में ही 'सहयोगी' की भूमिका निभाएं। एक मायने में सामाजिक नागरिक संस्थाएं राज्य व्यवस्था की ही एक भुजा, उसका एक अंग बनती जा रही हैं।

जिस तरह की विविधता भारत में है, उसके हिसाब से उक्त संस्थाओं के समुदाय का विकेंद्रीकृत स्वरूप इसकी सबसे बड़ी ताकत रही है, क्योंकि ऐसी व्यवस्था में विविध समुदायों में और विविध परिस्थितियों में एक रूप और एक समान कार्यक्रम लागू होने की जोखिम कम हो जाता है। लेकिन यह भी सच है कि राज्य व्यवस्था ने इन संस्थाओं की कठोर निगरानी के लिए संस्थाओं के विकेंद्रीकृत स्वरूप को एक बड़ी चुनौती माना गया है। जब कुछ ही संस्थाएं बची रहेंगी, तो उन पर 'राज्य व्यवस्था' का नियंत्रण आसान हो जाएगा, ऐसा ही हो भी रहा है। वास्तव में समाज को भी उक्त संस्थाओं की सुरक्षा के बारे में सोचना होगा, क्योंकि संस्थाओं का यही समुदाय उनकी पहचान, संसाधनों और वजूद को संरक्षित करने के संघर्ष में उनका पक्ष लेगा।

6.8 सामाजिक नागरिक संस्थाएं और वित्तीय संसाधन

पारंपरिक रूप से उक्त संस्थाएं आम लोगों और समाज के प्रभावशाली संपन्न लोगों को द्वारा दिए जाने वाले योगदान से संचालित होती थीं। लेकिन आजादी के बाद इन संस्थाओं को 'संस्थागत संसाधन' भी हासिल होने लगे। वर्ष 1953 में भारत सरकार ने केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना की। इसका मकसद उक्त संस्थाओं (अशासकीय संस्थाओं) के जरिये समाज कल्याण कार्यक्रमों में जन-सहभागिता बढ़ाना था। आजादी के बाद के पहले दशक से ही भारत सरकार का उद्देश्य था कि विकास की योजनाओं का विकेंद्रीकरण के साथ क्रियान्वयन हो। इसी के मद्देनजर राष्ट्रीय सामुदायिक विकास कार्यक्रम और राष्ट्रीय विस्तार सेवा की शुरुआत हुई। इसके बाद वर्ष 1958 में एसोसियेशन फॉर वालेंटरी एजेंसीज फॉर रूरल डेवलपमेंट (अवार्ड) की स्थापना हुई।

1960 का दशक सामाजिक नागरिक संस्थाओं के नए स्वरूप के विकास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण साबित हुआ।



एक तरफ देश ने युद्धों का सामना किया, तो दूसरी तरफ गरीबी की समस्या बड़े पैमाने पर विद्यमान थी। इसी दशक में देश ने दो बेहद गंभीर सूखे सालों का सामना किया। देश में खाद्य उत्पादन की स्थिति खराब थी। तब देश में स्वयं को खाद्य सुरक्षित बनाने के लिए नीतियां बनाना और उन्हें लागू करना शुरू किया। इस काम के लिए 'सूखे से राहत और कृषि विकास के लिए तकनीकी सहायता' के नाम पर अंतर्राष्ट्रीय अनुदान संस्थाओं ने भारत में प्रवेश किया। विदेशी अनुदान ने भारत में सामाजिक नागरिक संस्थाओं के स्वरूप को कई मानकों पर बदला।

वर्ष 1974-75 में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में हुए आन्दोलन के बाद वर्ष 1976 में भारत सरकार ने विदेशी अनुदान विनियमन अधिनियम लागू किया। इसका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक दलों और राजनीतिक गतिविधियों के लिए विदेशी अनुदान के उपयोग को रोकना था। इसके साथ ही लोक सेवकों, पत्रकारों, न्यायाधीशों को आर्थिक अनुदान लेने से रोकना था।

इसके बाद भारत में उक्त संस्थाओं के क्षेत्र में विविधता का दौर आया। जब संस्थाएं अलग-अलग भूमिकाएं (शोध, एडवोकेसी, सामुदायिक कार्यक्रम, राहत, प्रशिक्षण आदि) लेने लगीं।

यह समझना जरूरी है कि विगत 50 सालों में लाखों भारतीय इंग्लैण्ड, अमेरिका, कनाडा जैसे संपन्न देशों में जाकर बस गए हैं। इसके साथ ही बड़ी संख्या में लोग वहां रोजगार के नज़रिए से भी रहते हैं। उनके मन में यह भावना रही है कि वे देश से दूर रहकर भी भारत की समस्याओं के निराकरण में योगदान दे सकें। इसके लिए इन देशों में भारतीयों ने अपने स्वैच्छिक समूह बनाये हैं। ये समूह भारतीय समुदाय और अन्य स्थानीय लोगों से योगदान इकट्ठा करके भारत में काम करने वाली सामाजिक नागरिक संस्थाओं को उपलब्ध करवाते हैं। इसके साथ ही यूरोप का समाज पूरी दुनिया में गरीबी, खाद्य असुरक्षा और पर्यावरण के संकट से निपटने के लिए भी योगदान देता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर यह बात लगातार होती है और इसके लिए बाकायदा अनुबंध भी किये गए हैं कि आर्थिक संसाधनों से संपन्न देश दुनिया के अल्प विकसित और अविकसित देशों की सहायता करें। ऐसी व्यवस्थाओं के तहत यूरोप और अमेरिका की सरकारें भी अंतर्राष्ट्रीय विकास के लिए भारत जैसे देशों की सरकारों और सामाजिक नागरिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करती हैं। अतः यह मानना बिल्कुल अनुचित है कि भारत में विदेशी सहायता केवल सामाजिक नागरिक संस्थाओं को ही हासिल होती है।

ब्रिटेन का डिपार्टमेंट ऑफ इंटरनेशनल डेवलपमेंट (डीएफआईडी), यूएसएड (अमेरिका), जर्मनी, जापान, फ्रांस आदि देशों के विकास अनुदान और बिल एण्ड मेलिंडा गेट्स फाउण्डेशन सरीखी संस्थायें भारत की सरकार को भी वित्तीय सहायता प्रदान करती रही हैं और सामाजिक नागरिक संस्थाओं को भी। इनमें से कई संस्थाओं का अनुभव रहा है कि सरकार को दिये गये अनुदान का अनुत्पादक इस्तेमाल ज्यादा होता है।



एक ही स्रोत से भारत की सरकार को भी अनुदान मिलता है और उसी स्रोत से ही इन संस्थाओं को भी अनुदान हासिल होता है। सामाजिक नागरिक संस्थाओं की सक्रिय भूमिका के दबाव में यह कथानक बनाने की कोशिश की गई है कि विदेशी अनुदान के सभी स्रोत और विदेशी अनुदान पाने वाली भारतीय संस्थाएं नकारात्मक भूमिका निभाती हैं।

यही वह दौर था, जब दुनिया के ईसाई समुदाय ने भी दान के माध्यम से भारत के कई कोनों में उक्त संस्थाओं को स्थापित होने में मदद की। मुख्य रूप से इन संस्थाओं ने देश के सबसे वंचित और सुदूर इलाकों में स्वास्थ्य सेवाएँ और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पहुंचाने का काम किया। उनकी इस भूमिका से लाभ पाने वाले समुदाय और लोग ईसाई धर्म से भी प्रभावित हुए और कई लोगों ने ईसाई धर्म को अपना भी लिया।

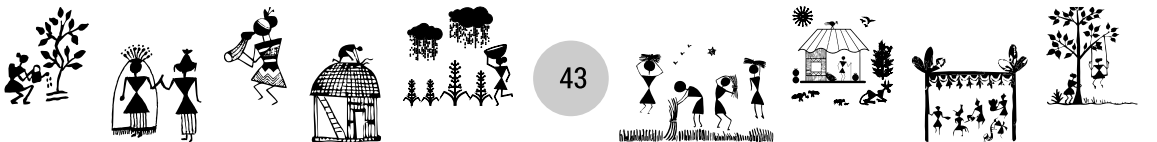
यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि वर्ष 1976 से ही विदेशी अनुदान पाने वाली सभी संस्थाओं को अपना लेखा-जोखा सरकार के पास जमा करना होता है। यह अनुदान क़ानून की निगरानी में होता है।

इसके साथ ही सरकार भी इन संस्थाओं के लिए वित्तीय अनुदान का अहम् स्रोत रही है। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड भी संस्थाओं को अनुदान लेता रहा। इसके साथ ही वर्ष 1986 में भारत में काउंसिल फॉर एडवांसमेंट ऑफ पीपुल्स एक्शन एंड रूरल टेक्नोलोजी (कापार्ट) की स्थापना हुई। वर्ष 1990 के दशक में इसमें सामाजिक नागरिक संस्थाओं की ज्यादा भूमिका मानी गई। कापार्ट सामाजिक नागरिक संस्थाओं के लिए अनुदान का बड़ा स्रोत बना।

भारत में राज्य व्यवस्था ने यह तो स्वीकार किया ही है कि विकास को महिलाओं, बच्चों, पर्यावरण, विकलांगता, शासन व्यवस्था में सहभागिता, पारदर्शिता और जवाबदेहिता के नज़रिए से सामाजिक नागरिक संस्थाएं ही देख पाती हैं, इसीलिए उनकी भूमिका की उपेक्षा नहीं करना चाहिए।

आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के दुष्प्रभावों के मद्देनज़र 1990 के दशक से ही सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने मानव अधिकारों, जन सहभागिता, संसाधनों के जवाबदेय उपयोग, पारदर्शिता और प्राकृतिक संसाधनों के गंभीर शोषण के विषय उठाने शुरू किये। सामाजिक नागरिक संस्थाओं के प्रतिरोध के फलस्वरूप कई योजनाओं और नीतियों का क्रियान्वयन बाधित हुआ। विस्थापन और पर्यावरण के विनाश के मुद्दे गंभीर बहस के मुद्दे बने। तब राज्य ने यह मानना शुरू कर दिया कि सामाजिक नागरिक संस्थाएं भारत के विकास और राज्य व्यवस्था की विरोधी हैं और तभी से (स्पष्ट रूप से वर्ष 2005-06 से) उक्त संस्थाओं को प्रभावित करने वाले क़ानून कड़े करने शुरू कर दिए गए। इस प्रक्रिया ने वर्ष 2015 ने और ज्यादा रफ़्तार पकड़ ली।

आर्थिक विकास के लाभ समाज को मिलें, इसके लिए भारत में वर्ष 2013 में कंपनी अधिनियम के अंतर्गत कार्पोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी का प्रावधान कर दिया गया। इसके अंतर्गत अपने मुनाफे में से कम्पनियों को



सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए एक तय हिस्सा व्यय करना होता है। कार्पोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी के तहत होने वाले व्यय का एक बड़ा हिस्सा सामाजिक नागरिक संस्थाओं के माध्यम से व्यय किया जाता है।

यह उल्लेख करना अभी जरूरी है कि आम लोग भी अलग-अलग माध्यमों से सामाजिक नागरिक संस्थाओं को योगदान देते हैं। बहरहाल वर्तमान में यह माना जा रहा है कि इन संस्थाओं को ऐसी कोई भी रणनीतिक गतिविधि नहीं करना चाहिए, जिसके कारण राज्य की नीति और उसकी व्यवस्था पर सवाल खड़े होते हों। आज सरकार मुख्य रूप से यह मानती है कि उक्त संस्थाओं को राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न नहीं होना चाहिए। वास्तव में यह दौर संस्थाओं के लिए वित्तीय संसाधनों के नज़रिए से कठिनाइयों से भरा हुआ है।

6.9 बाहरी चुनौतियां

अब सरकार ने सामाजिक नागरिक संस्थाओं के 'कार्यक्रमों' के प्रभावों और परिणामों का न्यायिक अंकेक्षण (फारेंसिक ऑडिट) की प्रक्रिया भी शुरू कर दी है। वास्तव में समस्या 'फारेंसिक ऑडिट' में नहीं है। समस्या तो इसके पीछे छिपे मकसद में है। मकसद है उक्त संस्थाओं के वजूद को इतना कमजोर कर देना कि वे बेहतर वैकल्पिक स्थायी विकास और बदलाव की वकालत न कर सकें। सामाजिक नागरिक संस्थाओं के 'प्रभाव के अंकेक्षण' का मकसद 'पराभाव' कर देना है।

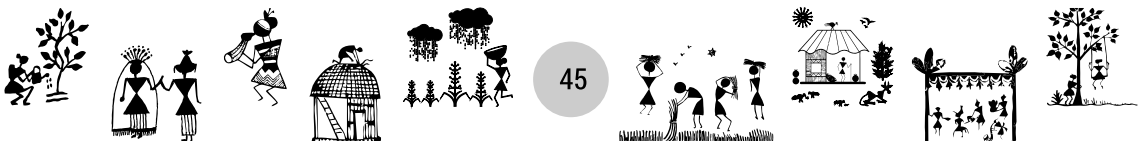
यह वास्तविकता है कि वर्तमान समाज तकनीक और उपभोग के मामले में तो खुला है, लेकिन मानवीय मूल्यों, परस्पर सौहार्द और सामाजिक खुशहाली के मानकों पर ज्यादा संकुचित हुआ है। अब असहमति, संवाद, बहस और प्रश्न पूछने के लिए स्थान बहुत कम बचा है। असहमति का उत्तर हिंसा से दिया जाने लगा है। ये स्थितियां सामाजिक नागरिक संस्थाओं के लिए बहुत बड़ी चुनौती हैं। ऐतिहासिक रूप से उक्त संस्थाओं ने अपने मानक और व्यवस्थाओं की रूपरेखा स्वयं तय की हैं, लेकिन अब उन्हें यह स्वतंत्रता नहीं है।

समाज की समस्याओं और विकास के मानक भी बदले हैं। ये संस्थाएं समानता, न्याय, खुशहाली, पर्यावरण की सुरक्षा आदि को विकास और समाज की बेहतरी के पैमाने मानती हैं, लेकिन नीति निर्माता, सरकारें और पूंजी क्षेत्र किसी भी तरह से अर्जित की गयी आय और मुनाफे को सर्वोपरि मानता है। विकास के नज़रियों में में यह भेद भी सामाजिक नागरिक संस्थाओं को नये सिरे से अपनी भूमिका और रणनीतियों के बारे में विचार करने के लिए प्रेरित तो करता ही है।





दूसरा पक्ष यह है कि विगत वर्षों के अनुभव और नीतिगत प्रक्रियाओं के परिणामों से यह बात उभर कर आयी

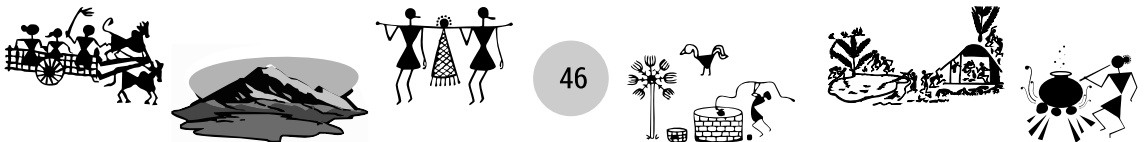


है कि सामाजिक नागरिक संस्थाओं का बहुत बड़ा समूह ऐसा है, जिसके पास समाज के लिए एक अच्छा सपना तो है, लेकिन नये आर्थिक-राजनीतिक वातावरण से उपजी चुनौतियों के मुताबिक संस्था के प्रबंधन और संचालन का कौशल, क्षमताएं और समझ नहीं है। वास्तव में उक्त संस्थाएं समाज और सरकार की व्यवस्थाओं के प्रति जवाबदेह होती हैं और इस जवाबदेहिता को निभाने के लिए संस्थाओं के नेतृत्व और उनकी टीम को मजबूत और कुशल बनाना बहुत बड़ी जरूरत है।

विगत 20 वर्षों में भारत में इन संस्थाओं के काम करने के तौर तरीकों, भ्रष्टाचार, अपारदर्शिता सरीखे प्रश्न खड़े किये जाते रहे हैं। इसके बाद हाल के वर्षों में यह धारणा स्थापित करने की कोशिशें भी हुई हैं कि ये संस्थाएं देश की अस्मिता और गरिमा के विरुद्ध काम करती हैं। एक कथानक बना कि उक्त संस्थाओं के लिए देश-समाज में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। यह बात चर्चा में ही नहीं आने दी जा रही है कि इन संस्थाओं के अस्तित्व में होने का मतलब होता है कि देश में नागरिक स्थान, सामाजिक पहल के लिए, सवाल पूछने और समस्याओं के समाधान के लिए वैकल्पिक पहल करने के लिए स्थान मौजूद है। अगर देश में उक्त संस्थाएं शेष न रहेंगी, तो इसका मतलब होगा कि नागरिक पहल, गलत नीति की आलोचना, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक विसंगतियों पर प्रश्न खड़े करने का कोई स्थान, कोई व्यवस्था और कोई अधिकार शेष न रहेगा।

बहरहाल यह स्पष्टता से स्वीकार किया जाना चाहिए कि सामाजिक नागरिक संस्थाओं की प्रबंधन व्यवस्था, वैधानिक प्रावधानों के पालन, सामाजिक नागरिक संस्थाओं के होने का मतलब, कार्यक्रम संचालन के वैज्ञानिक तरीकों, अपने कार्यक्रमों को परिणाम और प्रमाण आधारित बनाने के तरीकों और संचार कौशल से सम्बंधित क्षमता विकसित की जाने की जरूरत है। यह धारणा अब ध्वस्त कर देनी चाहिए कि महज एक पंजीयन प्रमाण पत्र हासिल कर लेने से ही सामाजिक नागरिक संस्था अपनी भूमिका निभाने के लिए अधिकृत हो जाती है। यह वक्त उक्त संस्थाओं को हर स्तर पर यानी विचार, व्यवस्था और व्यवहार के स्तर पर पर मजबूत और प्रभावी बनाने की कोशिश करने का है।

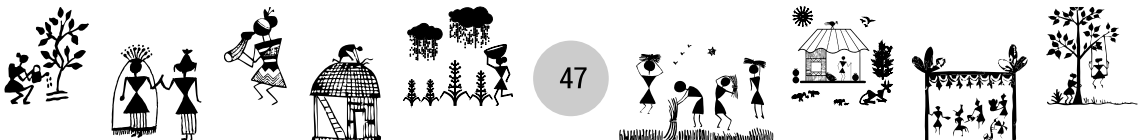
यह महती आवश्यकता है कि सामाजिक नागरिक संस्थाएं मूल्यों को अपनी दृष्टि और कार्यशैली का आधार बनाएं और संविधान को अपनी रणनीति का। ऐसा करना दो कारणों से जरूरी है। पहला कारण तो यह है कि इससे सामाजिक-आर्थिक बदलाव में सकारात्मक टिकाउपन आएगा और दूसरा कारण यह है कि सामाजिक नागरिक संस्थाएं राज्य और निजी क्षेत्र की व्यवस्था के दबाव से मुक्त रह पायेंगी।





सन्दर्भ

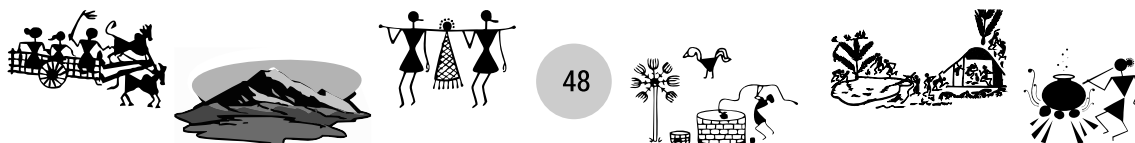
1. Complementarities in CSO Collaborations: How Working with Diversity Produces Advantages -Margit van Wessel, Farhat Naz & Sarbeswar Sahoo - <https://link.springer.com/article/10.1007/s11266-020-00227-4>
2. <https://www.springer.com/journal/11266>
3. Civil society dynamics Shaping roles, navigating contexts - Margit van Wessel, Suparana Katyaini, Yogesh Mishra, Farhat Naz, B. Rajeshwari, Rita Manchanda, Reetika Syal, Nandini Deo, Sarbeswar Sahoo <https://edepot.wur.nl/511476>
4. India at the crossroads? Civil society, human rights and religious freedom: critical analysis of CSOs' third cycle Universal Periodic Review discourse 2012–2017 - <https://www.tandfonline.com/doi/full/10.1080/13642987.2019.1656610>
5. Analysis of theCURRENT LEGAL FRAMEWORK FOR CIVIL SOCIETY IN INDIA - NOSHIR H. DADRAWALA - <https://www.icnl.org/wp-content/uploads/Legal-Framework-for-Civil-Society-in-India-Dadrawala-vf.pdf>
6. What is Civil Society, its role and value in 2018? - Rachel Cooper University of Birmingham
https://assets.publishing.service.gov.uk/media/5c6c2e74e5274a72bc45240e/488_What_is_Civil_Society.p
7. Overview of Civil Society Organizations: India - <https://www.adb.org/publications/overview-civil-society-organizations-india.pdf>
8. Civil society in changing India: emerging roles, relationships, and strategies - Debika Goswami and Rajesh Tandon - Development in Practice - Vol. 23, No. 5/6, SPECIAL ISSUE: Civil societies at crossroads: eruptions, initiatives, and evolution in citizen activism (August 2013), pp. 653-664 (12 pages)Published By: Taylor & Francis, Ltd.
9. How India's civil society rose up in the face of COVID-19 - Aditya Bahadur - International Institute for Environment and Development - <https://www.iied.org/how-indias-civil-society-rose-face-covid-19>
10. Role of civil society in the making of new India - Om Prakash Parida - <https://timesofindia.indiatimes.com/blogs/the-rock-bottom/role-of-civil-society-in-the-making-of-new-india/>
11. Context and Dynamics of Civil Society in the 21st Century - CENTRE FOR WOMEN'S



DEVELOPMENT STUDIES -

<https://www.cwds.ac.in/wp-content/uploads/2016/09/contextdynamics.pdf>

12. Indigenous Welfare, Tribal Homelands, and the Impact of Civil Society Organizations : A Subnational Analysis of Federal India – By Sunila S. Kale and Nimah Mazaheri -
<https://www.cambridge.org/core/books/abs/inside-countries/indigenous-welfare-tribal-homelands-and-the-impact-of-civil-society-organizations/4E9A213F5EDE13089D9C58A50F2063F1>
13. CAN CIVIL SOCIETY REORDER PRIORITIES IN INDIA? -
Neera Chandhoke - <https://www.cetri.be/Can-Civil-Society-Reorder?lang=fr>
14. Emerging Challenges for Civil Society Organisations - M. S. SRIRAM -
<https://www.theindiaforum.in/amp/article/emerging-challenges-civil-society-organisations>
15. Collaboration, Co-Optation or Navigation? The Role of Civil Society in Disaster Governance in India - Reetika Syal, Margit van Wessel & Sarbeswar Sahoo -
<https://link.springer.com/article/10.1007/s11266-021-00344-8>
16. Gender Equality in the Non-Profit Sector in India – Heinrich Boll Stiftung and Gender at Work, published by Institute of Social Studies Trust (ISST) -
https://www.isstindia.org/publications/1482300118_pub_gender_at_work_booklet.pdf



जब शाखों से जुड़े होते हैं
तब पत्ते हरे होते हैं,
जब शाखों से अलग हो जाते हैं
तब पत्ते सूख जाते हैं,
फिर शाखों से प्रस्फुटित होने के लिए
सूखे हुए पत्ते
मिट्टी में मिल जाते हैं;

